धारण करे तो धर्म

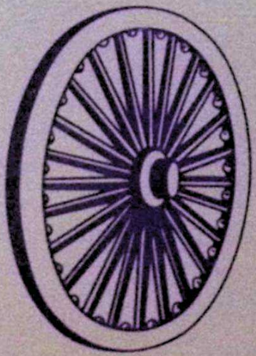

आचार्य सत्यनारायण गोयन्का

धारण करे तो धर्म

(धर्म के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश)

आचार्य सत्यनारायण गोयन्का

१९९९

विपश्यना विशोधन विन्यास

ISBN : 81-7414-200-2

प्रथम संस्करण : जनवरी १९९९
द्वितीय संस्करण : जून २००३

प्रकाशकः
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, नाशिक, महाराष्ट्र
फोनः ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६.
फैक्सः ०२५५३-२४४१७६.
E-mail : <info@giri.dhamma.org>
Web-site : <www.vri.dhamma.org>

मूल्य : रु. ४०/-

मुद्रक
अपोलो प्रिंटर्स
३१३, जोगानी एस्टेट, जे. आर. बोरिचा मार्ग
लोअर परेल, मुंबई- ४०००११

प्रकाशकीय

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायणजी गोयन्का की कई धर्म-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके अनेक लेख, प्रश्नोत्तर तथा प्रवचनों के अंश समाचार पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित हुए हैं। श्री गोयन्काजी के प्रवचन कई टीवी-चैनलों पर प्रसारित होते रहते हैं। इन सबसे अनेकानेक लोग प्रेरणा पाकर, शुद्ध धर्म की ओर आकर्षित होकर, उनके या उनके द्वारा मनोनीत सहायक आचार्यों के मार्गदर्शन में विपश्यना-ध्यान के दस दिवसीय शिविरों में सम्मिलित होकर सही माने में धर्मलाभी हुए हैं। पुराने साधकों को इस विपुल साहित्य से धर्म की गहराइयों को समझने और जीवन में उतारने का मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

प्रमुख विपश्यना केंद्र, **धम्मगिरि,** इगतपुरी से 'विपश्यना विशोधन विन्यास' साधकों के लाभार्थ 'विपश्यना' नाम से हिंदी और अंग्रेजी में पत्रिकाएं भी प्रकाशित करता है। पूज्य गुरुजी के लेख, तत्संबंधित धम्मवाणी और उनके स्वरचित दोहे 'विपश्यना' मासिक (हिंदी) के अविभाज्य अंग हैं।

इन पत्रिकाओं में पूज्य गुरुजी के अनेक लेख विषयगत क्रमशः छपे। परंतु कभी-कभी अन्य प्राथमिकताओं के कारण बीच में दूसरे विषय के लेख भी पत्रिका में छपते रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक **''धारण करे तो धर्म''** में पूज्य गोयन्काजी के ऐसे लेखों का समावेश किया गया है जिनमें २६०० वर्ष पुरातन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में धर्म को सही ढंग से समझने और उन्हें धारण कर अपना लौकिक तथा पारलौकिक जीवन सुखी बनाने का सजीव चित्रण है। इससे समाज के हर वर्ग के लोग लाभान्वित हुए। 'विपश्यना' की वही कल्याणकारी विद्या भारत से लुप्त हो जाने के बाद बर्मा में गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा बहुत थोड़े से लोगों में, पर अपने शुद्ध रूप में जीवित रही, आज पुनः जन-जन को लाभान्वित कर रही है जो कि धर्म के सार्वकालिक स्वरूप को ही स्पष्ट करती है।

ऐसे अनमोल लेखों को संगृहीत कर मोतियों की तरह चुन-चुन कर विषयगत पिरोने में कुछ बातें बार-बार दोहरायी गयी हैं, पर धर्म की व्याख्या व स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इन्हें दोहराना उचित ही

लगता है। इस लेखमाला का हर मोती एक-दूसरे से जुड़े रह कर भी अपने आप में अलग विशिष्टता लिए हुए है। विश्वास है पाठक इस प्रयास से प्रभूत प्रेरणा प्राप्त कर यथासंभव विपश्यना-शिविरों में सम्मिलित होकर धर्म के व्यावहारिक अभ्यास से न केवल अपना मंगल साधेंगे, बल्कि अन्य अनेकों के मंगल में भी सहायक बनेंगे। श्री गोयन्काजी के साहित्य-सृजन का यही एकमेव उद्देश्य है।

प्रकाशन समिति,

विपश्यना विशोधन विन्यास

विषय-सूची

१. भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा ९

निर्मल धर्म १६

धर्म को समझें २१

धर्म सनातन २५

२. बुद्ध और धर्म ३०

वास्तविक ब्रह्मयान ३०

धर्माचरण ही ब्रह्माचरण ३२

धर्म धारण करें ३४

अमित असीम धर्म ३७

सही अहिंसक ४०

शुद्ध धर्म का आकलन ४३

बुद्ध किसे कहते हैं ४६

धारण करे सो धर्म ५२

३. आंखों देखा विवरण ५९

ब्रह्मायु धन्य हुआ ६५

४. असीम करुणानिधान– (१) ७२

रक्त-रंजित यज्ञ ७३

असीम करुणानिधान– (२) ७६

५. बढ़े पारमी क्षांति की ८२

पुत्र-वियोग ८२

पत्नी-वियोग ८५

अग्रज-वियोग ८६

पितामह-वियोग ८६

पिता-वियोग ८७

१. भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा

आओ, बुद्ध को समझें और उनकी शिक्षा को समझें।

भगवान बुद्ध की पौराणिक और अलौकिक व्याख्या के धुँवासे में अक्सर उनका सही व्यक्तित्व धूमिल हो जाता है और ऐसे ही धूमिल हो जाती है उनकी कल्याणकारी शिक्षा। हम ऐसा न होने दें, इसी में सब का कल्याण समाया हुआ है।

गौतम बुद्ध हमारे देश के एक ऐतिहासिक महापुरुष हुए। उनके तथा उनकी शिक्षा के बारे में वास्तविकता की खोज करनी हो तो उनकी अपनी वाणी का सहारा लेना उचित है, न कि किसी अन्य के कथन का। औरों का कथन सही भी हो सकता है और अपनी मान्यताओं के रंगीन चश्मे से देखा गया हो तो गलत और भ्रामक भी। भगवान बुद्ध की मूल वाणी अपने देश में लगभग डेढ़-दो हजार वर्षों से विलुप्त हो गयी। परंतु सौभाग्य से पड़ोसी देशों में यहां से जैसी गयी, उसे वहां ठीक वैसे ही अपने शुद्ध रूप में सँभाल कर रखा गया। इतने लंबे अंतराल के बाद वह भारत में पुनः लौटी है। हमें उसका लाभ लेना चाहिए। भारत के इस अनमोल ऐतिहासिक साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अनेक तथ्य स्पष्टतया उजागर होते हैं।

१ – बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम अनेक जन्मों के परिश्रम पुरुषार्थ द्वारा पारमिताओं का याने भवसागर से पार उतरने के लिए आवश्यक धर्मगुणों कां परिपूर्ण संचय-संग्रह कर इस अंतिम जन्म में सम्यकरूप से संबुद्ध बने याने स्वयं बुद्ध बने। किसी की कृपा द्वारा ऐसा नहीं हुआ।

२ – गौतम बुद्ध भगवान कहलाए। आज के भारत की सामान्य भाषा में भगवान का अर्थ ईश्वर या परमात्मा हो गया है। परंतु २६ शताब्दी पूर्व के भारत की जन भाषा में इसका अर्थ कुछ और ही था। बुद्ध-वाणी स्पष्टतया कहती है कि **"भग्ग-रागो, भग्ग-दोसो, भग्ग-मोहोति भगवा।"** –

जिसने अपने राग भग्न कर लिए, द्वेष भग्न कर लिए, मोह भग्न कर लिए, वह भगवान है।

इस अवस्था को प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति भगवान बन सकता है।

३ – भगवान बुद्ध कोई दार्शनिक नहीं थे। न उनकी कोई दार्शनिक मान्यता थी और न ही उन्होंने कोई दार्शनिक मान्यता स्थापित की थी। जब किसी ने उनसे पूछा कि आप की दार्शनिक मान्यता क्या है ? तो उन्होंने कहा, **''दिट्ठिगतं ति खो वच्छ, अपनीतमेतं तथागतस्स।''**

– *हे वत्स, तथागत की दार्शनिक मान्यताएं दूर हो गयी हैं।*

यानी वे दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर उठ गये हैं।

उन्होंने इस तथ्य को भलीभांति जान लिया था कि भिन्न-भिन्न लोग अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यता में किस प्रकार जकड़े रहते हैं।

तदेव थामसा परामासा अभिनिविस्स वोहरन्ति।

– *इसी को दृढ़तापूर्वक आसक्तिजन्य अभिनिवेश से पकड़े रहते हैं।*

वे आसक्ति-वश इतने अंधे हो जाते हैं कि अपनी मान्यता को तो सच मानते हैं और दूसरे की मान्यता को झूठ।

इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं – *यही सत्य है, अन्य सब झूठ है।*

सभी लोकप्रचलित दार्शनिक मान्यताएं बुद्धिजन्य कल्पनाओं पर अथवा अधूरी अनुभूतियों पर आधारित हैं। अतः सर्वथा सत्य न होने के कारण हानिकारक हैं, दुखदायी हैं।

अत्थि मे अत्ताति वा अस्स सच्चतो दिट्ठी उप्पज्जति।

– *मेरी आत्मा है और यह सच है, (यों काया-चित्त से संबंधित किसी कल्पना के आधार पर) एक दार्शनिक मान्यता उपजती है।*

और फिर अपने आप के प्रति गहरी आसक्ति होने के कारण यह मान्यता प्रचलित हो जाती है कि –

अयं अत्ता निच्चो, धुवो, सस्सतो

– *यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शास्वत है,*

अविपरिणामधम्मो – *अपरिवर्तनशील स्वभाववाली है।*

अतः जैसी है, जन्म-जन्मांतरों तक

तथेव ठस्सतीति – *वैसी ही बनी रहती है।*

इस प्रकार की सभी दार्शनिक मान्यताओं के बारे में भगवान कहते हैं,

इदं वुच्चति, भिक्खवे, दिट्ठिगतं।

– *भिक्षुओं, इसे कहते हैं दार्शनिक मान्यताओं में जा पड़ना।*

दिट्ठिगहनं – *यह दार्शिनिक मान्यता का घना जंगल है।*

दिट्ठिकन्तारं – *दार्शनिक मान्यताओं का कांतार है, मरुधर है।*

दिट्ठिविसूकं – *दार्शनिक मान्यताओं का क्रीड़ा-किलोल है, खेल है, दिखावा है।*

दिट्ठिविप्फन्दितं – *दार्शनिक मान्यता की फड़कन है, तड़पन है।*

दिट्ठिसञ्ञोजनं – *दार्शनिक मान्यता का फंदा है, बंधन है।*

ऐसी मान्यताओं में जकड़ा हुआ व्यक्ति,

न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि।

– *दुःख से मुक्त नहीं होता, यही मैं कहता हूं।*

भगवान इस बात को बड़े दावे के साथ कहते हैं। कारण स्पष्ट है। जब तक आत्मभाव, अहंभाव कायम रहेगा, 'मैं-मेरे' का संयोजन कायम रहेगा, तब तक भवमुक्त कैसे होगा? भवमुक्ति बिना दुःख-मुक्त कैसे होगा? अपने अस्तित्व को कायम रखने की तीव्र लालसा के आधार पर ही वह ऐसी काल्पनिक मान्यताओं से जुड़ा रहता है। इस कारण उसका अस्मिताभाव उसे किसी न किसी लोक से बांधे रखता है। क्योंकि यही उसकी मनभावनी कल्पना है। इसीलिए भगवान ने कहा कि ये सारी मान्यताएं खतरनाक हैं, हानिकारक हैं।

मञ्ञितं, भिक्खु, रोगो – *हे भिक्षु, मान्यता रोग है।*

ऐसा भवरोग है जो जन्म-जन्मांतरों तक रोगी बनाए रखता है।

मञ्ञितं गण्डो – *मान्यता फोड़ा है।*

ऐसा नासूर है जो जन्म-जन्मांतरों तक रिसता रहता है।

मञ्ञितं सल्लं – *मान्यता शल्य है।*

ऐसा तीर है जो जन्म-जन्मांतरों तक बींधता रहता है और पीड़ित करते रहता है।

दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर संप्रदायों की स्थापना होती है। दार्शनिक मान्यताओं में उलझे हुए ऐसे संप्रदाय, सभी समाजों में होते हैं। उन दिनों के भारत में हम देखते हैं,

तेन खो पन समयेन – *उस समय*

सम्बहुला नाना तित्थिय-समण-ब्राह्मण-परिब्बाजका –

बहुत से भिन्न-भिन्न संप्रदायवादी जो श्रमणों में से भी थे, ब्राह्मणों में से भी थे और परिब्राजकों में से भी थे,

सावत्थियं पटिवसन्ति – *श्रावस्ती में रहते थे।* वे

नाना-दिट्ठिका – *नाना प्रकार की दार्शनिक मान्यता मानने वाले थे।*

नाना-खन्तिका – *नाना मतमतांतरों को मानने वाले थे।*

नाना-रुचिका – *नाना रुचि वाले थे* और

नाना-दिट्ठिनिस्सयनिस्सिता

– *नाना प्रकार की दार्शनिक मान्यताओं पर आश्रित थे।*

३ – भगवान बुद्ध कोई दार्शनिक नहीं थे। न उनकी कोई दार्शनिक मान्यता थी और न ही उन्होंने कोई दार्शनिक मान्यता स्थापित की थी। जब किसी ने उनसे पूछा कि आप की दार्शनिक मान्यता क्या है ? तो उन्होंने कहा, **"दिट्ठिगतं ति खो वच्छ, अपनीतमेतं तथागतस्स।"**

– हे वत्स, तथागत की दार्शनिक मान्यताएं दूर हो गयी हैं।

यानी वे दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर उठ गये हैं।

उन्होंने इस तथ्य को भलीभांति जान लिया था कि भिन्न-भिन्न लोग अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यता में किस प्रकार जकड़े रहते हैं।

तदेव थामसा परामासा अभिनिविस्स वोहरन्ति।

– इसी को दृढ़तापूर्वक आसक्तिजन्य अभिनिवेश से पकड़े रहते हैं।

वे आसक्ति-वश इतने अंधे हो जाते हैं कि अपनी मान्यता को तो सच मानते हैं और दूसरे की मान्यता को झूठ।

इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं – *यही सत्य है, अन्य सब झूठ है।*

सभी लोकप्रचलित दार्शनिक मान्यताएं बुद्धिजन्य कल्पनाओं पर अथवा अधूरी अनुभूतियों पर आधारित हैं। अतः सर्वथा सत्य न होने के कारण हानिकारक हैं, दुखदायी हैं।

अत्थि मे अत्ताति वा अस्स सच्चतो दिट्ठी उप्पज्जति।

– मेरी आत्मा है और यह सच है, (यों काया-चित्त से संबंधित किसी कल्पना के आधार पर) एक दार्शनिक मान्यता उपजती है।

और फिर अपने आप के प्रति गहरी आसक्ति होने के कारण यह मान्यता प्रचलित हो जाती है कि –

अयं अत्ता निच्चो, धुवो, सस्सतो

– यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शास्वत है,

अविपरिणामधम्मो – *अपरिवर्तनशील स्वभाववाली है।*

अतः जैसी है, जन्म-जन्मांतरों तक

तथेव ठस्सतीति – *वैसी ही बनी रहती है।*

इस प्रकार की सभी दार्शनिक मान्यताओं के बारे में भगवान कहते हैं,

इदं वुच्चति, भिक्खवे, दिट्ठिगतं।

– भिक्षुओं, इसे कहते हैं दार्शनिक मान्यताओं में जा पड़ना।

दिट्ठिगहनं – *यह दार्शिनिक मान्यता का घना जंगल है।*

दिट्ठिकन्तारं – *दार्शनिक मान्यताओं का कांतार है, मरुधर है।*

दिट्ठिविसूकं – *दार्शनिक मान्यताओं का क्रीड़ा-किलोल है, खेल है, दिखावा है।*

दिट्ठिविप्फन्दितं– *दार्शनिक मान्यता की फड़कन है, तड़पन है।*

दिट्ठिसञ्ञोजनं– *दार्शनिक मान्यता का फंदा है, बंधन है।*

ऐसी मान्यताओं में जकड़ा हुआ व्यक्ति,

न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि।

– दुःख से मुक्त नहीं होता, यही मैं कहता हूं।

भगवान इस बात को बड़े दावे के साथ कहते हैं। कारण स्पष्ट है। जब तक आत्मभाव, अहंभाव कायम रहेगा, 'मैं-मेरे' का संयोजन कायम रहेगा, तब तक भवमुक्त कैसे होगा? भवमुक्ति बिना दुःख-मुक्त कैसे होगा? अपने अस्तित्व को कायम रखने की तीव्र लालसा के आधार पर ही वह ऐसी काल्पनिक मान्यताओं से जुड़ा रहता है। इस कारण उसका अस्मिताभाव उसे किसी न किसी लोक से बांधे रखता है। क्योंकि यही उसकी मनभावनी कल्पना है। इसीलिए भगवान ने कहा कि ये सारी मान्यताएं खतरनाक हैं, हानिकारक हैं।

मञ्ञितं, भिक्खु, रोगो– *हे भिक्षु, मान्यता रोग है।*

ऐसा भवरोग है जो जन्म-जन्मांतरों तक रोगी बनाए रखता है।

मञ्ञितं गण्डो– *मान्यता फोड़ा है।*

ऐसा नासूर है जो जन्म-जन्मांतरों तक रिसता रहता है।

मञ्ञितं सल्लं– *मान्यता शल्य है।*

ऐसा तीर है जो जन्म-जन्मांतरों तक बींधता रहता है और पीड़ित करते रहता है।

दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर संप्रदायों की स्थापना होती है। दार्शनिक मान्यताओं में उलझे हुए ऐसे संप्रदाय, सभी समाजों में होते हैं। उन दिनों के भारत में हम देखते हैं,

तेन खो पन समयेन– *उस समय*

सम्बहुला नाना तित्थिय-समण-ब्राह्मण-परिब्बाजका–

बहुत से भिन्न-भिन्न संप्रदायवादी जो श्रमणों में से भी थे, ब्राह्मणों में से भी थे और परिव्राजकों में से भी थे,

सावत्थियं पटिवसन्ति– *श्रावस्ती में रहते थे।* वे

नाना-दिट्ठिका– *नाना प्रकार की दार्शनिक मान्यता मानने वाले थे।*

नाना-खन्तिका– *नाना मतमतांतरों को मानने वाले थे।*

नाना-रुचिका– *नाना रुचि वाले थे और*

नाना-दिट्ठिनिस्सयनिस्सिता

– नाना प्रकार की दार्शनिक मान्यताओं पर आश्रित थे।

ते भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना
– वे लड़ते-झगड़ते हुए, कलह करते हुए, विवाद में पड़े हुए,
अञ्ञमञ्ञं – *एक दूसरे को*
मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति
– मुखरूपी बरछी से बींधते-छेदते रहते हैं।

दार्शनिक मान्यताओं में उलझे हुए ऐसे लोग अपनी-अपनी मान्यता को ही धर्म कहते हैं, जबकि उन्होंने धर्म की वास्तविकता देखी तक नहीं, उसे अनुभव पर उतारा तक नहीं। इसीलिए भगवान ने कहा –

ते अंधा अचक्खुका – *वे अंधे हैं, प्रज्ञाचक्षु-विहीन हैं अतः*
अत्थं न जानन्ति, अनत्थं न जानन्ति।
– न अर्थ जानते हैं, न अनर्थ जानते हैं।
धम्मं न जानन्ति, अधम्मं न जानन्ति।
– न धर्म जानते हैं, न अधर्म जानते हैं।

यों अर्थ को अर्थ न जानते हुए, अनर्थ को अनर्थ न जानते हुएं, धर्म को धर्म न जानते हुए, अधर्म को अधर्म न जानते हुए, तर्क-वितर्क वाद-विवाद करते हुए परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते हैं।

जो धर्म को अनुभूति के स्तर पर जान लेगा वह इस प्रकार के निकम्मे निरर्थक दार्शनिक वाद-विवादों में कैसे उलझेगा ?

भगवान बुद्ध ने लोकीय और लोकोत्तर सभी धर्म-नियमों की सच्चाइयों का स्वयं साक्षात्कार कर लिया था। अतः वे मान्यताओं का जीवन न जीकर, जान्यताओं का जीवन जीते थे। लोगों को भी इसी प्रकार सच्चाई की प्रत्यक्षानुभूति कर, जान लेने का पाठ पढ़ाते थे। किसी सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई बात के प्रति आसक्त हो कर उलझनों में न पड़ जाने की शिक्षा देते थे। साधक जब स्वयं अनुभव करेगा तो ही उसके लिए जान्यता वाला दर्शन होगा, सम्यक दर्शन होगा। अन्यथा महज मान्यता वाली फिलोसफी बन कर रह जायेगा। समस्त ऐंद्रिय क्षेत्र की सच्चाई का स्वानुभूति के स्तर पर यथाभूत दर्शन करेगा तो देखेगा कि यह सारा क्षेत्र अनित्यधर्मा है, दुःखधर्मा है, अनात्मधर्मा है। परिणाम स्वरूप इसके प्रति तादात्म्यभाव टूटेगा, आसक्ति टूटेगी। स्थितप्रज्ञता के बल पर अनासक्तभाव पुष्ट होगा। बुद्ध ने यही स्वानुभूतिजन्य सम्यक दर्शन सिखाया, दार्शनिकों वाला दर्शन नहीं। इसीलिए समस्त बुद्ध-वाणी में **"बौद्ध दर्शन"** शब्द कहीं ढूंढे भी नहीं मिलेगा।

४ – भगवान बुद्ध संप्रदायवादी नहीं थे। उन्होंने अपना कोई संप्रदाय स्थापित नहीं किया था। उन्होंने देख लिया था कि चाहे ब्राह्मणों के हों, श्रमणों

के हों अथवा परिव्राजकों के हों, सभी संप्रदाय मान्यताओं पर आधारित हैं। इसलिए मानव की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं। समाज की सौमनस्यता में बाधक हैं। परस्पर झगड़ा-फसाद करवाने वाले हैं।

५ – भगवान बुद्ध एक महान वैज्ञानिक थे। उन्होंने स्वानुभूति पर उतरा हुआ विज्ञानसम्मत धर्म सिखाया। अंधविश्वासों पर आधारित सांप्रदायिक धर्म नहीं। उन्होंने स्वयं अपनी अनुभूतियों पर उतरी हुई सच्चाइयों का अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से विभाजन, विघटन और विश्लेषण करते हुए प्रकृति के सनातन नियमों का दर्शन किया और इस जानकारी से लाभ उठाकर स्वयं अपना कल्याण साध लिया तथा इसी सत्य की स्वानुभूति का लाभ उठा सकने के लिए औरों को प्रेरित किया। इस निमित्त सही मार्ग-निर्देशन दिया।

प्रकृति का शास्वत नियम ही धर्म है। उसको जीवन में उतारना ही धर्म का जीवन जीना है। यह धर्म सार्वजनीन है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है यानि सनातन है, सदा बना रहने वाला है। इसका किसी संप्रदाय से लेन-देन नहीं है। धर्म सब का है। हिंदू-धर्म, बौद्ध-धर्म, जैन धर्म, मुस्लिम धर्म आदि आदि संयुक्त शब्दों में से हिंदू, बौद्ध, जैन, मुस्लिम जैसी भ्रामक संज्ञाएं निकाल दें तो केवल शुद्ध धर्म रह जाय। यही भारत का पुरातन सनातन वैज्ञानिक धर्म है जो कि दार्शनिक बुद्धिकिलोल और सांप्रदायिक हठधर्मी के कारण समय-समय पर लुप्त हो जाता है। जो भी व्यक्ति शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान करता हुआ, इसकी सच्चाई को ढूंढ निकालता है, वह अत्यंत करुणचित्त से लोक कल्याण के लिए इसी का प्रज्ञापन करता है। भगवान बुद्ध ऐसे ही कल्याणकारी धर्म-प्रज्ञापक थे। उन्होंने जो सिखाया उसे **'धर्म'** कहा, न कि **'बौद्ध-धर्म'**। सारी बुद्ध-वाणी और तत्संबंधित ५२६०२ पृष्ठों और कुल ७४,४८,२४८ शब्दों के पुरातन पालि साहित्य का अनुसंधान करके देखने पर उसमें न कहीं **'बौद्ध'** शब्द मिलता है, न **'बौद्ध-धर्म'**। जैसे अपनी शिक्षा को उन्होंने **'धम्म'** (धर्म) कहा, वैसे ही उस शिक्षा के पालकों को **धम्मिको** (धार्मिक), **धम्मट्ठो** (धर्मस्थ), **धम्मिं** (धर्मी), **धम्मचारी** (धर्मचारी) और **धम्मविहारी** (धर्मविहारी) कहा।

६ – भगवान बुद्ध ने अपने आप को भिषक कहा, वैद्य कहा, चिकित्सक कहा। वह सचमुच एक अद्वितीय मनोचिकित्सक थे। एक कुशल वैद्य की भांति उन्होंने रोग को जाना, रोग के कारण को पहचाना, उस कारण को दूर करने का उपाय ढूंढ निकाला और उसके समुचित प्रयोग द्वारा कारण का निवारण कर रोग को दूर करने में सफल हुए। जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु के भव-रोग से दुखी व्यक्ति को, अनचाही के होने और मनचाही के

न होने के दु:खों से दुखी व्यक्ति को इन दुखों से मुक्त होने की सहज सरल विधि बताई, जिसके अभ्यास से कोई भी दुखी व्यक्ति दुख-मुक्त हो सकता है, चाहे वह अपने आप को हिंदू कहे या बौद्ध, जैन कहे या मुस्लिम, ब्राह्मण कहे या शूद्र, भारतीय कहे या अँग्रेज, आत्मवादी कहे या नैरात्मवादी, ईश्वरवादी कहे या निरीश्वरवादी। सांप्रदायिकता-विहीन सार्वजनीन नैसर्गिक सनातन धर्म किसी का पक्षपात नहीं करता। जो धारण करे वही नैसर्गिक सच्चाइयों का साक्षात्कार कर दुखमुक्त हो जाता है। जितना-जितना धारण करे, उतना-उतना दुखमुक्त हो जाता है।

उन महाभिषक ने इस भव-विमुक्ति की विधि को विपश्यना कहा। विपश्यना माने विशेषरूप से देखना। भोक्ताभाव से नहीं, बल्कि तटस्थभाव से देखना। अपनी साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर क्षण-प्रतिक्षण जो सत्य प्रकट हो रहा है, उस पर किसी दार्शनिक मान्यता का अथवा सांप्रदायिक अंधविश्वास का रंग-रोगन चढ़ाए बिना वह जैसा है, उसे यथाभूत वैसा ही देखना।

इस विद्या का अभ्यास करने के लिए शारीरिक और वाचिक दुराचरण से विरत रहते हुए सहज स्वाभाविक नैसर्गिक श्वास के आवागमन को देख कर मन को एकाग्र करने का अभ्यास सिखाया। तदनंतर अपनी प्रज्ञा जगा कर यानी अपना प्रत्यक्ष ज्ञान जगा कर अपने भीतर की सच्चाइयों का निरीक्षण करना सिखाया।

जब कोई व्यक्ति शील और समाधि की बुनियाद पर आधारित प्रज्ञा जाग्रत करने वाली इस विपश्यना विद्या का अभ्यास आरंभ करता है तो उसे बहुत शीघ्र अपने भीतर चित्त और शरीर का या उन दिनों की भाषा में कहें तो नाम और रूप का सारा प्रपंच समझ में आने लगता है। इन दोनों का अंतर्द्वन्द स्पष्ट होने लगता है। किस प्रकार दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं, यह स्पष्ट दीखने लगता है।

आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा और मन की इन छहों इंद्रियों का अपने-अपने विषयों के संपर्क में आने पर भीतर ही भीतर शरीर और चित्त के स्तर पर जो हलन-चलन आरंभ होती है, उसे यथाभूत देखते-देखते साधक उस अवस्था तक जा पहुँचता है, जहां अपने अंतर्मन के स्वभाव-शिकंजे को बहुत स्पष्ट समझने लायक हो जाता है। वह देखता है कि सुखद अनुभूति होने पर राग की और दुखद अनुभूति होने पर द्वेष की प्रतिक्रिया करते रहने का यह स्वभाव-शिकंजा कितना दृढ़ है, कितना खतरनाक है। इस

स्वभाव-शिकंजे के कारण ही प्रिय अनुभूति को प्राप्त करने और प्राप्त हो गयी हो तो उसे बनाये रखने की तृष्णा तथा अप्रिय को न उपजने देने और उपज गयी हो तो दूर करने की तृष्णा बलवान होती रहती है। यों राग और द्वेषमयी तृष्णा बढ़ती है और उसके आधार पर अन्य भिन्न-भिन्न विकारों का प्रजनन ही नहीं होता, बल्कि उनका संवर्धन भी होते रहता है। मानस में इन विकारों का प्रजनन दुखदायी है, इनका संवर्धन और अधिक दुखदायी है। यह प्रकृति का अटूट नियम है जो सब पर लागू होता है। कोई अपने को हिंदू कहे या बौद्ध, प्रकृति किसी का लिहाज नहीं करती। जो अपने मन में विकार जगाता है वही बेचैन हो जाता है। दुखियारा हो जाता है। यह सार्वजनीन रोग है, सार्वजनीन व्याकुलता है। इसे दूर करने के लिए किसी संप्रदाय में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं। किसी दार्शनिक मान्यता को अंधविश्वास के साथ स्वीकार कर लेने की आवश्यकता नहीं, जाति गोत्र और वर्ण के आधार पर किसी को ऊंचा या नीचा मान लेने की आवश्यकता नहीं। जैसे यह रोग सार्वजनीन है, वैसे ही इसका इलाज भी सार्वजनीन है। यही भगवान बुद्ध की शिक्षा है। कोई व्यक्ति अपने भीतर की सच्चाई को तटस्थभाव से देखना सीख जाय तो विकारों का संवर्धन बंद कर ले। आगे जा कर विकारों का प्रजनन ही बंद कर ले। तब विकारों के पुराने संग्रह की उदीरणा होनी शुरू हो जाय। विकारों की निर्जरा होनी शुरू हो जाय, उनका क्षय होना शुरू हो जाय। यों होते-होते उस अवस्था पर पहुँच जाय, जहां कि–

खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं।

– सारे पुराने मनोविकार क्षीण हो गये और नयों का प्रजनन नहीं होता।

ऐसा व्यक्ति अपने भीतर समस्त भंगुर क्षेत्र का अनुभव करता हुआ, उसका अतिक्रमण कर उस नित्य शास्वत ध्रुव अविनाशी परम सत्य का अनुभव कर लेता है, जिसे कोई भले निर्वाण कहे या मुक्ति या मोक्ष। ऐसा व्यक्ति भव-संसरण से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। अतः सर्वथा दुःखमुक्त हो जाता है।

उनकी इस व्यावहारिक शिक्षा को भी किसी एक परंपरा की मान्यता के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार नहीं कर देना चाहिए। इसका अभ्यास करना चाहिए और साथ-साथ स्वयं जांच कर देखते रहना चाहिए कि इस अभ्यास से मनोविकार कम हो रहे हैं या नहीं। मनोविकारों का स्वभाव-शिकंजा ढीला पड़ रहा है या नहीं। इस अभ्यास से जितना-जितना प्रत्यक्ष लाभ होता जाय, बस उतना-उतना ही स्वीकारे। जितना जाने, उतना

ही माने। यही उस महान वैज्ञानिक धर्मगुरु की धर्म-शिक्षा थी और इसी वैज्ञानिक शिक्षा के बल पर पुरातन भारत विश्वगुरु के रूप में सम्मानित हुआ। आज भी विश्व भर में जो इस शिक्षा का अभ्यास करते हैं वे इसका प्रत्यक्ष लाभ अनुभव करते हैं। उन्हें किसी सांप्रदायिक बाड़े में बँधने की आवश्यकता नहीं होती, किसी दार्शनिक मान्यता के प्रति चिपकाव पैदा करने की आवश्यकता नहीं होती। जो सच अनुभूति पर उतरा, बस उसे ही नैसर्गिक सनातन धर्म जान कर स्वीकारे और वैज्ञानिक मुक्ति-पथ पर बढ़ता चला जाय।

धर्म के इस शुद्ध पथ पर जैसे-जैसे साधक आगे बढ़ता जाता है, उसे संप्रदाय के नाम पर; जाति, वर्ण, गोत्र के नाम पर; प्रदेश-प्रदेश के नाम पर समाज का विभाजन सर्वथा निकम्मा, निरर्थक लगने लगता है, हानिकारक लगने लगता है। वह खूब समझने लगता है कि सब का रोग एक ही है। जिसका भी चित्त विकार-ग्रस्त हुआ वही रोगी हो गया और जिसका भी चित्त विकार-विमुक्त हुआ वही रोग-मुक्त हो गया। इसमें कोई संप्रदाय क्या करेगा ? कोई दार्शनिक मान्यता क्या करेगी ? कोई वर्ण-विभाजन क्या करेगा ? कोई कर्मकांड क्या करेगा ? कोई वेशभूषा क्या करेगी ? सीधी सादी वैज्ञानिक बात है। धर्म को इसी रूप में देखना चाहिए। इसी रूप में स्वीकारना चाहिए। इसी रूप में इसे अनुभूति पर उतारना चाहिए।

ऐसा करेंगे, तो ही बुद्ध और बुद्ध की शिक्षा को सही परिप्रेक्ष्य में देख समझ सकेंगे अन्यथा वाद-विवादों के अखाड़े में अपनी भी हानि कर लेंगे, औरों की भी हानि ही करेंगे। आओ, इस हानि से बचें और भगवान बुद्ध को समझें, भगवान बुद्ध की शिक्षा को समझें और उसे धारण कर अपना कल्याण साध लें!

निर्मल धर्म

जब कोई व्यक्ति इस चेतना से धर्म सिखाता है कि मेरी धर्मवाणी सुन कर लोग प्रसन्न-प्रभावित होंगे। प्रसन्न-प्रभावित होंगे तो मुझे दान-दक्षिणा देंगे। दान-दक्षिणा देंगे तो मेरा परिवार पलेगा, मेरी भौतिक इच्छाएं पूरी होंगी। दान-दक्षिणा न भी दें तो मान-सम्मान देंगे। मेरे बारे में प्रशस्ति-प्रशंसा के शब्द कहेंगे। वह प्रशंसा देश-विदेशों में फैलेगी। पीढ़ियों तक, सदियों

तक चलेगी। इतिहास के पन्नों में मैं भी एक प्रसिद्ध व्यक्ति माना जाऊंगा। इस चेतना से सिखाया हुआ धर्म निर्मल नहीं होता। कल्याणकारी नहीं होता।

परंतु जब कोई व्यक्ति इस चेतना से धर्म सिखाता है कि मेरी धर्मवाणी सुन कर लोग प्रसन्न-प्रभावित होंगे। प्रसन्न-प्रभावित होंगे तो धर्म-धारण करने का समुचित प्रयास करेंगे। समुचित प्रयास करेंगे तो विकार-विमुक्त होंगे, दुःख-विमुक्त होंगे। अपना सही मंगल साधेंगे, स्वस्ति-मुक्ति साधेंगे। इस चेतना से सिखाया हुआ धर्म निर्मल होता है, कल्याणकारी होता है। बहुजन हित-सुखकारी होता है।

जब कोई भी व्यक्ति सम्यक संबुद्ध बनता है तो उसका निर्मल मानस दुखियारे संसार के प्रति मैत्री और करुणा से ओत-प्रोत हो उठता है। वह केवल लोक-कल्याण के लिए ही शुद्ध धर्म सिखाता है। रोगियों को रोग की पीड़ा से मुक्त करने के लिए शुद्ध धर्म की कल्याणकारी औषधि बांटता है। बदले में कुछ पाने के लिए नहीं। वह कोई संप्रदाय स्थापित नहीं करता जिससे कि भावी सहस्त्राब्दियों तक उसके संप्रदाय में दीक्षित हुए लोग उसकी जय-जयकार बोलते रहें। उसके नाम के मंदिर, देवालय स्थापित करके उसकी कीर्ति अमर बनाए रखें। सत्पुरुष की कीर्ति तो स्वभावतः अमर हो जाती है। उसे लोगों को संप्रदाय के बाड़े में बांधने की आवश्यकता नहीं होती। परंतु कालांतर में धर्म का सत्य-सार छूट जाने के कारण लोग बावलेपन में उसके नाम पर एक ही नहीं, अनेक बाड़े तैयार करते हैं और उनमें स्वयं बँधते हैं, औरों को बांधते हैं। जो सचमुच संत होता है वह तो लोगों को संप्रदाय के बाड़े से, जाति और वर्ण के बंधनों से, नाना प्रकार के मत-मतांतरों की बेड़ियों से और नाना प्रकार के कर्मकांडों की रूढ़ियों से मुक्त करता है। वह तो परम परिशुद्ध धर्मचेतना से परम परिशुद्ध और परम परिपूर्ण धर्म सिखाता है, जिससे लोग शीलवान बनें और सदाचरण का जीवन जीएं, समाधिवान बनें और अपने मन को वश में करना सीखें, प्रज्ञावान बनें और राग-विमुक्त, द्वेष-विमुक्त, मोह-विमुक्त होकर सारे दुःखों से विमुक्त हो सकें।

विकार ही दुःख हैं। और विकार सार्वजनीन हैं। जिसका मन सुरक्षित नहीं, जो अपने मन का मालिक नहीं, उसमें विकार जागेंगे ही। उसे व्याकुल बनायेंगे ही। यह कुदरत का अटूट नियम है, विश्व का अविचल विधान है, ऋत है, धर्म है जो किसी का पक्षपात नहीं करता। किसी का लिहाज नहीं करता।

किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित हो जाने मात्र से अथवा किसी जाति-विशेष, वर्ण-विशेष में जन्म ले लेने मात्र से यदि हमारे मन में विकार

जागने बंद हो जायँ और परिणामतः हमारे सारे दुःख दूर हो जायँ तो सचमुच उस संप्रदाय, जाति व वर्ण-विशेष को अधिक से अधिक महत्व देना ही चाहिए। परंतु ऐसा तो नहीं होता न ? कोई अपने को बौद्ध कहे, हिंदू कहे, जैन कहे, मुस्लिम कहे, ईसाई कहे अथवा सिक्ख कहे तो भी मन वश में न हो तो विकारों से विकृत होकर दुःखी होता ही है। कोई अपने आप को ब्राह्मण कहे, क्षत्रिय कहे, वैश्य कहे, शूद्र कहे तो भी; भारतीय कहे, बर्मी कहे, अंग्रेज कहे, अमेरिकन कहे, रूसी कहे अथवा चीनी कहे तो भी; विकारों से विकृत होकर दुःखी होता ही है। कोई अपने को त्रैतवादी कहे, द्वैतवादी कहे, अद्वैतवादी कहे, अद्वयवादी कहे, विशिष्टाद्वैतवादी कहे, द्वताद्वैतवादी कहे, आत्मवादी कहे, निरात्मवादी कहे, ईश्वरवादी कहे, निरीश्वरवादी कहे, सगुणसाकारवादी कहे अथवा निर्गुण-निराकारवादी कहे; तो भी विकारों से विकृत होकर व्याकुल होता ही है। यदि कोई व्यक्ति अपने आप को किसी एक सांप्रदायिक बाड़े से छुड़ा कर दूसरे में, किसी एक दार्शनिक मान्यता के अखाड़े से छुड़ा कर दूसरे में बँधवा ले और ऐसा करते ही विकार-विमुक्त होकर दुःख-विमुक्त हो जाय, तब तो सचमुच ऐसे सांप्रदायिक बाड़े को, ऐसे दार्शनिक अखाड़े को अधिक से अधिक महत्व देना ही चाहिए। परंतु ऐसा तो नहीं होता न ?

और इसके विपरीत कोई भी व्यक्ति शील-सदाचार का जीवन जीता है, समाधि द्वारा मन को वश में करने का अभ्यास करता है, प्रज्ञा द्वारा मन को विकार-विमुक्त करने का अभ्यास करता है तो अपना कल्याण साधता ही है। कुदरत उसके रंग-रूप को, जाति-वर्ण को, कर्मकांड को, संप्रदाय और दार्शनिक मान्यता को नहीं देखती। उसे दुःख-मुक्त करती ही है।

जो व्यक्ति सचमुच सम्यक-संबुद्ध बन जाता है [और सम्यक-संबुद्ध बन जाना किसी एक अकेले व्यक्ति का एकाधिकार नहीं होता] वह कुदरत के कानून को खूब अच्छी तरह जान लेता है। वह छिलके व सार के अंतर को बखूबी पहचान लेता है। इसीलिए छिलकों के प्रति आसक्त हुए लोगों से छिलके छुड़वा कर अत्यंत करुणचित्त से उन्हें सार ग्रहण करना सिखाता है। शुद्ध धर्म धारण करना सिखाता है जिससे उनका मंगल हो, कल्याण हो।

जब कुछ लोग उसकी सिखाई हुई इस सार्वजनीन विद्या में निपुण हो जाते हैं तो प्रभूत मंगल मैत्री से उन्हें लोक-कल्याण के लिए आमुख करता है, प्रोत्साहित करता है, आदेश देता है।

चरथ भिक्खवे चारिकं– *जाएं, धर्मचारिका करें!* किसलिए ? अपने हित-सुख के लिए नहीं। बल्कि

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय– *अन्य अनेकों के हित-सुख के लिए।*

लोकानुकम्पाय– किसी संप्रदाय, जाति, वर्ण व वर्ग विशेष के लिए नहीं, बल्कि *सभी लोगों पर अनुकंपा करने के लिए।*

हिताय सुखाय देव-मनुस्सानं– *भले-बुरे, सामान्य-विशेष, राजा-प्रजा, देव-मनुष्य सभी के मंगल-कल्याण के लिए, हित-सुख के लिए, स्वस्ति-मुक्ति के लिए धर्मचारिका करें।* इस धर्मचारिका में कहीं अपने लाभ-सत्कार की किंचित मात्र भी कामना न हो! केवल लोककल्याण ही लोक-कल्याण की मंगल कामना हो!

देसेथ भिक्खवे धम्मं– *धर्म की ही उपदेशना करें!* लोगों को संप्रदाय अथवा दार्शनिक मत-मतांतरों के बाड़े में न बांधे! धर्म भी बुद्धि-किलोल करने वाला नहीं, भावावेश जगाने वाला नहीं, बल्कि शुद्ध प्रयोगात्मक, क्रियात्मक जो कि दैनिक जीवन-व्यवहार में उतारा जा सके। ऐसा सक्रिय धर्म जो कि –

आदि कल्याणं– *आरंभ में कल्याणकारी हो* याने शील-पालन में कल्याणकारी हो।

मज्झे कल्याणं– *मध्य में कल्याणकारी हो* याने समाधि के अभ्यास में कल्याणकारी हो। और,

परियोसान कल्याणं– *अंत में कल्याणकारी हो* याने प्रज्ञा पुष्ट करने में कल्याणकारी हो।

कदम-कदम कल्याणकारी ही कल्याणकारी। ऐसा ऋजु राजपथ कि जिस पर उठाया हुआ एक भी कदम गलत नहीं होता। एक-एक कदम विकार-विमुक्ति के अंतिम लक्ष्य की ओर ले जाता है। जिस पथ पर कदम वापस खैंचने की नौबत नहीं आती। जिसके अभ्यास में किया गया किंचित मात्र भी परिश्रम-प्रयास निरर्थक-निष्फल नहीं जाता।

ऐसा धर्म जो सुआख्यात हो।

सात्थं सव्यञ्जनं– *जिसका एक-एक शब्द अच्छी तरह समझाया गया हो।* जो किसी महापुरुष की वाणी का केवल रूढ़िजन्य तोता-रटंत पाठ न बन गया हो। अथवा केवल बुद्धि-विलास और वाणी-विलास का विषय न बन गया हो। दार्शनिकों का भ्रामक शब्दजाल न बन गया हो। जिसकी अभिव्यंजना स्पष्ट हो, सार्थक हो। ताकि लोग उसे समझ कर धारण कर सकें और अपना सही अर्थ सिद्ध कर सकें।

केवलं परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ– *ऐसा ब्रह्माचरण, ऐसा धर्माचरण प्रकाशित करें जो संपूर्णतया परिपूर्ण हो याने जिसमें कोई कमी न हो, जिसमें कुछ और जोड़ने की किंचित मात्र भी गुंजाइश न हो।* जो

पूर्णतया परिशुद्ध हो याने जिसमें से अशुद्ध मान कर किंचित मात्र भी निकाल बाहर करने की गुंजाइश न हो।

शील, समाधि और प्रज्ञा के ऐसे परिपूर्ण, परिशुद्ध व्यावहारिक धर्म में-से कुछ निकाला कि उसकी परिपूर्णता में कमी आ जायगी। कुछ भी जोड़ा कि उसकी परिशुद्धता में कभी आ जायगी। ऐसे सांप्रदायिकता-विहीन सर्वलोकहितकारी सार्वजनीन धर्म के प्रकाशन की प्रेरणा दी गयी। धर्म जो धारण किया जाय। धर्म जो आचरण में उतारा जाय। केवल सैद्धांतिक मान्यता तक सीमित न रह जाय। शील की कोरी चर्चा नहीं। शील जीवन में उतरे। समाधि का कोरा विवरण नहीं। समाधि चित्त का अंग बने। प्रज्ञा की कोरी व्याख्या नहीं। प्रज्ञा अंतर में स्थित हो, वस्तुतः स्थितप्रज्ञ बनाये। धर्म धारण किया जाय तो ही उसकी परिपूर्णता। धर्म आचरण में उतर कर मानस को परम विशुद्ध कर दे तो ही उसकी परिशुद्धता। इस प्रेरणा के आधार पर सरल-हृदय करुणचित्त संत पुरुष केवल लोकहित के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी निर्मल धर्म का प्रज्ञापन-प्रकाशन करते रहे और जन-जन का कल्याण करते रहे। जब-जब जनहित की इस विमल चेतना से धर्म सिखाया जाता है, तब-तब धर्म निर्मल रहता है और अपरिमित लोक-कल्याण करता है।

लेकिन संप्रदाय को ही धर्म समझ बैठने वाला कोई उलझा हुआ व्यक्ति जब लोक-कल्याण के इस निर्मल उद्देश्य को नहीं समझता और अपने संकुचित स्वार्थ में गिरफ्त हो जाता है तो धर्म-शिक्षा के नाम पर संप्रदाय का बाड़ा बांधने लगता है और सारा जीवन गड़रिये का काम करता है। इस बाड़े के लोग भेड़-बकरी की तरह मेरा अंधानुकरण करते रहें। इस बाड़े में बँधी भेड़-बकरियां कहीं मनुष्यों की तरह स्वतंत्र चिंतन-मनन न करने लगें। इनकी संख्या बढ़ती रहे। अन्य भेड़-बकरियां अपने बाड़ों को तोड़ कर इस बाड़े में अवश्य आ जायँ परंतु एक भी भेड़-बकरी कहीं इस बाड़े के बाहर न चली जाय। बेचारा धर्म-शिक्षक [?] कहां उलझ गया ? अपना भी अनमोल मानवी-जीवन ऐसे निकम्मे काम में बिताने लगा और अन्य अनेकों का भी अनमोल जीवन नष्ट करने में लग गया। हर संप्रदायवादी अपने बावलेपन में यही करता है।

इसी प्रकार जात-पांत को धर्म मानने वाला भटका हुआ कोई व्यक्ति जब धर्म की शिक्षा देता है तो लोगों को उलझाता ही है। धर्म के नाम पर मनुष्य द्वारा मनुष्य के निर्मम शोषण किए जाने को बढ़ावा देता है और धर्म की निर्मलता नष्ट कर लोगों का असीम अहित करता है।

इसी प्रकार किसी दार्शनिक मान्यता के बोझ से बोझिल व्यक्ति धर्म

के व्यावहारिक पक्ष को भूल कर एक दार्शनिक अखाड़ा स्थापित करने में लग जाता है। अपनी दार्शनिक मान्यता को सत्य तथा औरों की दार्शनिक मान्यता को मिथ्या सिद्ध करने के लिए कितना श्रम करता है! कितना तर्क-वितर्क! कितना वाद-विवाद! कितना खिंचाव-तनाव! कितना संघर्ष-संग्राम! जीवन-व्यवहार में धर्म उतरे या न उतरे, पर मेरी दार्शनिक मान्यता लोगों द्वारा स्वीकार्य हो जाय, सारा जीवन इसी में लगा देता है। अनमोल मानवी जीवन का कैसा दुरुपयोग? स्वयं भी उलझा रहता है, औरों को भी उलझाने का ही काम करता है।

इसी प्रकार कर्मकांडों में उलझा हुआ व्यक्ति धर्म के नाम पर नाना प्रकार के कर्मकांडों को बढ़ावा देने लगता है। उसके लिए छिलके ही प्रमुख बन जाते हैं। धर्म का सार भले छूट जाय। इस प्रकार स्वयं भी डूबता है, अपने अनुयायियों को भी ले डूबता है।

साधको! हमारा बड़ा भाग्य है। बड़ा पुण्यलाभ है कि धर्म का निर्मल स्वरूप हमारे सामने प्रकाशित हुआ। छिले हुए शंख की तरह विरज, खिले हुए कमल की तरह विमल, जिस पर कहीं कोई मैल नहीं टिक सकता। आओ, सभी सांप्रदायिक बेड़ियों को, जात-पांत की जंजीरों को, दार्शनिक मान्यताओं की जकड़न को, निष्प्राण कर्म-कांडों के शिकंजों को तोड़ कर विरज-विमल धर्म धारण करें और अपना कल्याण साधें, मंगल साधें, स्वस्ति-मुक्ति साधें!

धर्म को समझें

२६०० वर्ष पूर्व के भारत की जनभाषा पालि में जिसे 'धम्म' कहा गया, आज उसे 'धर्म' कहते हैं। उन दिनों के भारत में इस शब्द का अर्थ बहुत व्यापक था। समय बीतते-बीतते यह अर्थ संकुचित और रूढ़ होता चला गया। आज के भारत में तो बहुत अंशों में इसके अर्थ का अनर्थ ही हो गया।

उन दिनों धर्म कहते थे मन के विषय को। पांचों इंद्रियों के अपने अलग-अलग विषय हैं। आंख का विषय है रूप, कान का शब्द, नाक का गंध, काया याने त्वचा का स्प्रष्टव्य पदार्थ। इन पांचों के अतिरिक्त एक और इंद्रिय है जो इनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अधिक बलवान है और वह है मन की इंद्रिय। उन दिनों की भाषा में मन को चित्त भी कहते थे, विज्ञान भी कहते थे। चित्त-इंद्रिय के विषय को चैतसिक याने चित्त-वृत्तियां कहते

थे और चित्त-वृत्तियों को ही धर्म कहते थे। **धारेती'ति धम्मो** *धारण करे सो धर्म* / चित्त जो धारण करे वह धर्म। चित्त विभिन्न चित्त-वृत्तियां धारण करता है। अतः सभी चित्तवृत्तियां धर्म कहलायीं।

चित्त-वृत्तियां बावन प्रकार की होती हैं। इनमें से कुछ अच्छी हैं, कुछ बुरी; कुछ हितकारिणी हैं, कुछ अहितकारिणी। इसलिए उन दिनों की भाषा में इस प्रकार का कथन प्रचलित था – जैसे कि कुशल-धर्म, अकुशल-धर्म। कुशल-धर्म माने वह चित्त-वृत्ति जिसे धारण करने में हमारा कुशल-मंगल समाया हुआ है और अकुशल-धर्म माने वह चित्त-वृत्ति जिसे धारण करने में हमारा अकुशल-अमंगल समाया हुआ है। इसी भाव में ऐसे शब्द प्रचलित थे, जैसे – पुण्य-धर्म, पाप-धर्म। पुण्य-धर्म वह जिसके धारण करने से चित्त पुण्यमय याने पुनीत होता है और पाप-धर्म वह जिसके धारण करने से चित्त पापमय याने मैला होता है। ऐसे ही कहा जाता था – शुक्ल-धर्म, कृष्ण-धर्म। शुक्ल-धर्म वह जिसे धारण करने से चित्त शुक्ल, स्वच्छ होता है और कृष्ण-धर्म वह जिसे धारण करने से चित्त कलुषित, मैला होता है। इसी प्रकार कहा जाता था – आर्य-धर्म, अनार्य-धर्म। आर्य-धर्म वह जिसे धारण करने से कोई भी व्यक्ति आर्य याने शुभेच्छ सज्जन बन जाता है और अनार्य-धर्म वह जिसे धारण करने से कोई भी व्यक्ति अनार्य याने मलेच्छ दुर्जन बन जाता है।

उपरोक्त व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए धर्म की एक और परिभाषा भी प्रचलित थी। धर्म कहते थे गुण को, स्वभाव को, प्रकृति को। गुण, धर्म, स्वभाव, प्रकृति – ये उन दिनों के पर्यायवाची शब्द थे, समानार्थक शब्द थे। जिस चित्तवृत्ति का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म कहलाया। कोप, क्रोध, द्वेष, दुर्भावना जैसी चित्तवृत्तियां अपने स्वभाववश चित्त को मैला कर देती हैं, तनाव से भर देती हैं, व्याकुल कर देती हैं, उसका अमंगल करती हैं, अकुशल करती हैं; इसीलिए पाप-धर्म, अकुशल-धर्म, कृष्ण-धर्म, अनार्य-धर्म कहलायीं। यों ही मैत्री, करुणा, स्नेह, सद्भावना जैसी चित्तवृत्तियां अपने स्वभाववश चित्त को पुनीत कर देती हैं, उसे सुख-शांति और सौमनस्यता से भर देती हैं, उसका कुशल करती हैं, मंगल करती हैं इसीलिए पुण्य-धर्म, कुशल-धर्म, शुक्ल-धर्म, आर्य-धर्म कहलायीं।

यों हम देखते हैं कि उन दिनों अच्छी बुरी, सभी प्रकार की चित्तवृत्तियों के लिए धर्म शब्द का प्रयोग होता था, क्योंकि सभी चित्त-वृत्तियां चित्त के द्वारा धारण की जाती हैं। धारण करे सो धर्म – इस व्याख्या के अनुसार दोनों ही धर्म। परंतु आगे चल कर उन्हीं चित्त-वृत्तियों को धारण करने को धर्म कहा जाने लगा जो कि सुखदा हैं, शांतिदा हैं और मंगलकारिणी

हैं। उन्हें धारण करना चाहिए। यह करणीय है, यह कर्तव्य है। अतः धर्म का एक अर्थ प्रचलित हुआ – कर्तव्य। यह हमारा धर्म है याने हमारा कर्तव्य है। और जो अकरणीय है, अकर्तव्य है वह अधर्म है। धर्म और अधर्म की यह कल्याणी व्याख्या किसी दार्शनिक अंधविश्वास के आधार पर स्थापित नहीं हुई, किसी सांप्रदायिक मान्यता के आधार पर स्थापित नहीं हुई; बल्कि अनुभवजन्य शुद्ध वैज्ञानिक आधार पर स्थापित हुई थी।

निकम्मी, निरर्थक और झगड़े-फसाद फैलाने वाली कल्पनाजन्य दार्शनिक मान्यताओं को एक ओर रख कर शरीर और चित्त के पारस्परिक संबंधों का सुवैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान करने वाला एक तटस्थ विपश्यी साधक जब स्वानुभूति के स्तर पर सच्चाई का निरीक्षण करता है, तो देखता है कि वह जब-जब दूषित वृत्तियां धारण करता है तब-तब स्वयं तो तत्काल संतापित हो ही जाता है, आस-पास के वातावरण में भी अपने तनाव की तरंगें भर देता है। उस समय उस वातावरण के संपर्क में जो व्यक्ति आता है, वह बेचैनी महसूस करने लगता है। वह इस सच्चाई को अनुभूति के स्तर पर जानने लगता है कि हम अपने विकारजन्य मनोसंताप से दूसरों के मन को भी संतापित करते हैं। दूषित चित्तवृत्तियों को धारण कर स्वयं भी व्याकुल होते हैं, औरों को भी व्याकुल करते हैं। अतः स्पष्ट हुआ कि यह अकरणीय है, याने अधर्म है।

साधक यह भी देखता है कि जिस समय मन विकारों से विकृत होता है उस समय वाणी और शरीर से जो काम किया जाता है, वह दूषित ही होता है, अकुशलजनक ही होता है – अपने लिए भी और समाज के लिए भी। अतः वाणी और शरीर के सभी दुष्कर्म अकरणीय हैं, अधर्म हैं।

साधक यह भी देखता है कि चित्त जब-जब विकार-विमुक्त रहता है तब-तब दुःखविमुक्त रहता है। जब-जब विकार-विमुक्त चित्त मैत्री, करुणा सद्भावना जैसे गुणों से भर जाता है, तब-तब वह स्वयं जो सुख शांति महसूस करता है वह आस-पास के वातावरण में भी समाने लगती है। जो उस सुख-शांतिमय वातावरण के संपर्क में आता है वह भी सुख-शांति महसूस करने लगता है। अतः समझने लगता है कि केवल अपनी ही नहीं बल्कि सब की सुख-शांति के लिए चित्त को विकारों से विमुक्त रखना और उसे सद्गुणों से भर लेना ही करणीय है, यही धर्म है। वह यह भी देखता है कि चित्त जब विकार-विमुक्त होता है और सद्गुणों से भर उठता है तब शरीर और वाणी के जो भी कर्म होते हैं, वे सत्कर्म ही होते हैं जो कि अपने लिए भी कल्याणकारी होते हैं, औरों के लिए भी कल्याणकारी। अतः वाणी

और शरीर के सभी सत्कर्म करणीय हैं, कर्तव्य हैं याने धर्म हैं। इस प्रकार करणीय को धर्म कहा जाने लगा, अकरणीय को अधर्म। या यों कहें कि धर्म कर्तव्य है और अधर्म अकर्तव्य।

इस प्रकार स्वानुभूति के आधार पर जाने गये तथ्यों के आधार पर ही धर्म की सही व्याख्या की गयी। पुरातन भारत में ऋत को याने निसर्ग के नियमों को धर्म कहते थे; प्रकृति को, स्वभाव को धर्म कहते थे। जो अपना स्वभाव याने अपना लक्षण धारण करे सो धर्म। उसे ही **धम्मनियामता** याने धर्म-नियम और **धम्मता** याने धर्मता कहते थे। धर्म शब्द के इस सही अर्थ की गूंज आज भी कहीं-कहीं सुनने को मिल जाती है। जब हम कहते हैं कि अग्नि का धर्म है जलना और जलाना, बर्फ का धर्म है शीतल होना और शीतल करना, सूरज का धर्म है प्रकाश और उष्णता प्रजनन करना, चंद्रमा का धर्म है प्रकाश और शीतलता प्रजनन करना। ऐसा न हो तो अग्नि अग्नि नहीं, बर्फ बर्फ नहीं, सूरज सूरज नहीं, चंद्रमा चंद्रमा नहीं। क्योंकि यही उनका नैसर्गिक धर्म है, यही उनका स्वभाव है जिसे वे धारण करते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि संसार के सभी प्राणी, सभी वस्तुएं जराधर्मा हैं, मरणधर्मा हैं; तो इसका अर्थ है कि यही उनका स्वभाव है, उनकी प्रकृति है जिन्हें वे धारण करते हैं। इसी प्रकार कोप, क्रोध, द्वेष, दुर्भावना आदि मन के दुर्गुणों का धर्म-स्वभाव है व्याकुल होना, व्याकुल करना। मैत्री, करुणा, स्नेह-सद्भावना आदि मन के सद्गुणों का स्वभाव है – सुखी शांत होना, सुखी शांत करना। ऐसा न हो तो दुर्गुण दुर्गुण नहीं, सद्गुण सद्गुण नहीं। मन के दुर्गुणों और सद्गुणों का यह नैसर्गिक स्वभाव ही धर्म है। दुर्गुण धारण कर दुखी हो जाना, सद्गुण धारण कर सुखी हो जाना यह धर्म-नियम किसी एक जाति विशेष पर अथवा वर्ण, वर्ग, समाज, संप्रदाय विशेष पर ही लागू नहीं होता है। इसीलिए कहा गया कि धर्म सार्वजनीन है। हिंदू हो या बौद्ध, ब्राह्मण हो या शूद्र, भारतीय हो या अमरीकी धर्म के नियम सब पर एक जैसे लागू होते हैं। धर्म सार्वदेशिक है। भारत हो या जापान, रूस हो या अमेरिका सभी स्थानों पर धर्म के नियम एक जैसे लागू होते हैं। धर्म सार्वकालिक है। भूतकाल में भी यही धर्म-नियम थे, आज भी यही हैं और भविष्य में भी यही रहेंगे। संसार में और सब कुछ बदलते रहता है, पर यह नैसर्गिक धर्म-नियम नहीं बदलते। इसीलिए धर्म को सनातन कहा गया। शास्वत नैसर्गिक नियम ही सनातन धर्म है।

आग से आग बुझती नहीं, बढ़ती है। यह सनातन धर्म है। बैर से बैर मिटता नहीं, बढ़ता है। यह सनातन धर्म है। आग पानी से बुझती

है, यह सनातन धर्म है। बैर मैत्री से मिटता है, यह सनातन धर्म है। मनोविकार से व्याकुलता बढ़ती है, यह सनातन धर्म है। विकार-विहीनता से व्याकुलता मिटती है, यह सनातन धर्म है, आदि, आदि।

इसीलिए कहा गया **एस धम्मो सनन्तनो** – *यही सनातन धर्म है।* प्रकृति के सनातन नियमों पर आधारित हो तो ही सनातन धर्म है। सनातन धर्म की इस नैसर्गिक व्याख्या को भुला कर हम इस भ्रम में पड़ गये कि पौराणिक मान्यताओं को मानना और पौराणिक कर्मकांडों का संपादन करना सनातन धर्म है और इसके विपरीत वैदिक मान्यताओं को मानना और वैदिक कर्मकांडों का संपादन करना आर्यसमाजी धर्म है। इसी प्रकार धर्म की सही सार्वजनीन व्याख्या को भुला कर हमने इसे संप्रदाय का पर्यायवाची शब्द बना दिया और हिंदू-धर्म, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, सिक्ख-धर्म, मुस्लिम-धर्म, ईसाई-धर्म आदि के रूप में इसका भ्रामक प्रयोग करने लगे। धर्म और सनातन धर्म का यह अर्वाचीन प्रचलित प्रयोग कितना दूषित है, कितना भ्रांतिजनक है और परिणामतः कितना हानिकारक हो गया है! इसे समझें और धर्म का सही सार्थक उपयोग कर अपना भी मंगल साध लें तथा औरों के मंगल में भी सहायक बन जायँ। यही करणीय है। यही कल्याणपद है।

धर्म सनातन

जो कर्तव्य है वह धर्म है, जो अकर्तव्य है वह अधर्म। या यों कहें जो करणीय है वह धर्म है, जो अकरणीय है वह अधर्म। उन दिनों अकरणीय के लिए एक शब्द और प्रयोग में आता था – विनय। २६०० वर्ष के लंबे अंतराल में भाषा बदल जाती है, भाषा के शब्द बदल जाते हैं, शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। आज की हिंदी में विनय कहते हैं विनम्रता को। परंतु उन दिनों की जनभाषा में विनय कहते थे दूर रहने को, यानि वह अकुशल कर्म जिससे दूर रहा जाय, विरत रहा जाय। इसी अर्थ में भगवान बुद्ध की शिक्षा "धर्म और विनय" कहलाती थी। यानि वह शिक्षा जो बताती है कि क्या धर्म है ? क्या विनय है ? क्या धारण करने योग्य है ? क्या दूर रखने योग्य है ? क्या करणीय है ? और क्या अकरणीय है ?

निस्संदेह करणीय वह है जो हमें भी सुखी रखे, औरों को भी सुखी रखे। हमारा भी मंगल कल्याण करे, औरों का भी मंगल कल्याण करे। और अकरणीय वह है जो हमारी भी सुख-शांति भंग करे, औरों की भी सुख-शांति भंग करे। हमारा भी अमंगल करे औरों का भी अमंगल

करे। इस कसौटी पर कस कर जो जो कर्म किए जायँ वे धर्म और जिन-जिन कर्मों को त्यागा जाय वे विनय।

इसी समझावन में धर्म शब्द का अर्थ विशद हो गया। जो करणीय है उसका करना तो धर्म है ही, परंतु जो अकरणीय है उसका न करना भी धर्म है। यानि धर्म तो धर्म है ही, विनय भी धर्म है। धर्म के इस व्यापक अर्थ का प्रयोग करते हुए ही भगवान कहते हैं–

अकुसलानं धम्मानं विनयाय धम्मं देसेमि।

– अकुशल चित्तवृत्तियों से दूर रहने के लिए मैं धर्म उपदेशता हूं।

अतः कुशल चित्तवृत्तियों का धारण भी धर्म और अकुशल चित्तवृत्तियों का निवारण भी धर्म। यह व्याख्या स्पष्ट होने पर धर्म का व्यावहारिक पक्ष स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

हम मनुष्य हैं। सामाजिक प्राणी हैं। हमें अनेकों के साथ रहना होता है। गृहस्थ हैं तो अपने स्वजनों-परिजनों के साथ ही नहीं बल्कि समाज के अन्य लोगों के साथ भी रहना होता है। गृहत्यागी संन्यासी है तो भी लोक संपर्क तो बनाए ही रखना होता है। औरों के साथ रहते हुए हम स्वयं कुशलतापूर्वक रह सकें तथा औरों की कुशलता में सहयोगी बन सकें, यही आदर्श मानवी जीवन है। इसे ध्यान में रखते हुए शरीर और वाणी से कोई भी ऐसा कर्म नहीं करें, जिससे औरों की सुख-शांति भंग हो, औरों का अकुशल हो, अमंगल हो। अतः हम १) हत्या नहीं करें। २) चोरी नहीं करें। ३) व्यभिचार नहीं करें। ४) न झूठ बोल कर किसी को ठगें, न कटु कठोर वचन बोल कर किसी का मन दुखाएं, न परनिंदा अथवा चुगलीभरी वाणी बोल कर व्यक्तियों का पारस्परिक मैत्रीभाव तुड़वा दें। ५) नशा पता न करें क्योंकि नशे पते के आधीन हो कर हम यह सोच समझ भी नहीं पाते कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय!

शरीर और वाणी के इन पांच दुष्कर्मों से विरत रहने का उपदेश देते हुए यह समझाया गया कि जैसे किसी व्यक्ति द्वारा तुम्हारे प्रति किया गया कोई दुष्कर्म तुम्हें अच्छा नहीं लगता, वैसे ही तुम्हारे द्वारा दूसरों के प्रति किया गया वैसा ही दुष्कर्म उन्हें कैसे अच्छा लगेगा? अतः औरों को अपने समान समझ कर कोई ऐसा काम नहीं करे जिससे कि उन्हें दुःख पहुँचे।

इसी को समझाने के लिए यह भी कहा गया कि किसी की हत्या करके, किसी की कोई प्रिय वस्तु चुरा कर या छीन कर, किसी के पति या पत्नी से व्यभिचार कर के, किसी को असत्य भाषण द्वारा ठग कर, किसी को कड़वी वाणी, चुगली की वाणी, परनिंदा की वाणी बोल कर अथवा नशे

पते के आधीन हो इन सारे अकरणीय कर्मों को करके जब तुम औरों की सुख-शांति भंग करते हो तो परिवार की सुख-शांति भंग करते हो, समाज की सुख-शांति भंग करते हो। तुम्हें इसी परिवार और समाज के साथ रहना है परंतु परिवार और समाज के ऐसे अशांत वातावरण में तुम कैसे सुख-शांति का जीवन जी सकोगे ? परिवार और समाज की सुख-शांति के साथ ही तुम्हारी सुख-शांति जुड़ी हुई है। परिवार और समाज की सुख-शांति बनाए रखोगे तो उस सुखद-शांत वातावरण में तुम भी सुख-शांति महसूस करोगे। परिवार और समाज की सुख-शांति का हनन करोगे तो उस अशांत असुखद वातावरण में तुम भी अशांत और दुखी हो उठोगे।

अतः दुःशील दुराचरण से विरत रहना और शील सदाचरण का जीवन जीना धर्म है। धर्म की बुनियाद है। धर्म के लंबे मार्ग पर उठाया गया पहला कदम है। भगवान भिन्न-भिन्न युक्तियों द्वारा धर्म के इस आवश्यक प्रथम चरण की महत्ता और उपादेयता समझाते हैं। परंतु सब पर इस समझावन का असर इतना गहरा नहीं पड़ता। अतः धर्म के इस बुनियादी और महत्वपूर्ण अंग को और अधिक गहराइयों से समझाते हैं जिससे कि लोग स्वयं अपने हित के लिए ही इसके पालन में लग जायँ।

संसार में और कोई व्यक्ति भी अपने आप से अधिक प्रिय नहीं लगता। हर प्राणी स्वभावतः स्वप्रेमी होता है। हर प्राणी स्वभावतः स्वार्थी होता है। मनुष्य भी एक स्वार्थी प्राणी है। स्वार्थी होने में यानि अपना अर्थ सिद्ध कर लेने में कोई दोष नहीं है। परंतु हमें यह तो समझ लेना चाहिए कि हमारी वास्तविक अर्थसिद्धि किसमें है ? किससे हमारा मंगल सधता है ? यदि स्वार्थ साधने के फेर में हमने अपने सही स्वार्थों पर ही कुठाराघात कर दिया तो इससे बढ़ कर नासमझी और क्या होगी ?

अपना सही स्वार्थ समझने के लिए हमें अपने बारे में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करनी होती है और वह भी किसी से सुन कर नहीं और न ही मात्र किसी पुस्तक को पढ़ कर। अपने बारे में सही जानकारी हमें अपने निजी अनुभव से करनी होती है। भगवान ने इसी लिए विपश्यना साधना का अभ्यास करना सिखाया। इस अभ्यास द्वारा अपने बारे में जानते-जानते हम अपनी समस्याओं के बारे में जानने लगते हैं और उनका उचित समाधान पाने लगते हैं। अपने दुःखों का, अपने संतापों का सरलता से निराकरण करने लगते हैं।

यह सब विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा किए गए आत्मदर्शन से फलीभूत होता है। इतिहास के लंबे बहाव में सदियां बीतते-बीतते यह आत्मदर्शन शब्द भी अपना सही अर्थ खो बैठा। आज आत्मदर्शन कहते हैं अपने भीतर किसी

काल्पनिक आत्मा के दर्शन को। उन दिनों 'आत्म' शब्द का एक बहुप्रचलित सीधा सरल अर्थ था –'स्व'। अतः आत्मदर्शन माने स्वदर्शन माने अपने बारे में जो सच्चाई है उसे अनुभूति के स्तर पर जानते हुए उसका यथाभूत दर्शन।

स्वदर्शन की इस साधना का पथ बहुत लंबा है, बहुत श्रमसाध्य है। परंतु पथ पर चलना आरंभ कर दें तो अपने बारे में कुछ एक मूलभूत सच्चाइयां शीघ्र ही प्रकट होने लगती हैं। साधक देखता है कि शरीर और वाणी के हर कर्म का उद्गम मन है। कोई अच्छी या बुरी चेतना पहले मन में उपजती है। तदनंतर वह वाचिक कर्म या कायिक कर्म के रूप में प्रकट होती है। मन की अच्छी चेतना का आधार हो तो वाणी या शरीर से किया गया कर्म, सत्कर्म ही होगा और यदि बुरी चेतना का आधार हो तो वह दुष्कर्म ही होगा। अतः इस बात की जानकारी बहुत स्पष्ट होने लगती है कि मन ही प्रमुख है, मन ही प्रधान है, मन ही सारे कर्मों का अगुआ है।

साधक को यह तथ्य भी बहुत स्पष्ट ज्ञात होने लगता है कि पहले क्रोध, कोप, द्रोह, द्वेष, दुर्भावना जैसे विकार मन में जागते हैं तब शरीर से किसी की हत्या की जाती है। चोरी करने के पहले लोभ और व्यभिचार करने के पहले मन में वासना का विकार जागता है। झूठ बोलने के पहले मन में भय, लोभ अथवा अहंकार जैसा कोई विकार जागता है। नशापता करने के पहले मन में आसक्ति जागती है। अतः यह स्पष्ट है कि कायिक या वाचिक दुष्कर्म पीछे होता है, पहले मानसिक दुष्कर्म होता है। स्वानुभूति से साधक यह भी जानने लगता है कि मन में जैसे ही कोई विकार जागता है, चाहे क्रोध जागे या लोभ, चाहे वासना जागे या अन्य कोई विकार, मन तत्काल अपनी समता खो देता है, अपनी शांति खो देता है। मन अशांत हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। तो यह बात स्वानुभूति के स्तर पर स्पष्ट होती जाती है कि हत्या, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या भाषण और नशेपते का सेवन कर हम औरों को जो हानि पहुँचाते हैं, उसके पहले मनोविकार जगा कर अपने आप को हानि पहुँचाने लगते हैं।

तब यह उपदेशों से यानि परोक्ष ज्ञान से नहीं, बल्कि प्रज्ञा से यानि प्रत्यक्ष ज्ञान से समझ में आने लगता है कि शील सदाचार के नियमों को तोड़ कर हम पहले अपनी सुख-शांति का हनन करते हैं और उसके बाद ही किसी अन्य को पीड़ा पहुँचा कर उसकी सुख-शांति का हनन करते हैं। और तभी यह भी समझ में आने लगता है कि शील सदाचार का पालन कर के, शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से विरत रह कर हम किसी अन्य प्राणी पर कोई एहसान नहीं करते। वस्तुतः हम अपने आप पर ही एहसान

करते हैं। अतः शील सदाचार का जीवन जीना औरों के हित में ही नहीं, बल्कि हमारे अपने हित में भी आवश्यक है, अनिवार्य है। यही धर्म है, सार्वजनीन धर्म है। यही ऋत है, निसर्गनियामता है।

इस नियम को तोड़ने पर निसर्ग हमें तत्क्षण दंड देती है। हम बेचैन और व्याकुल हो जाते हैं। धर्म का यह नैसर्गिक नियम केवल हिंदुओं पर या केवल बौद्धों पर अथवा केवल ब्राह्मणों पर या केवल शूद्रों पर ही लागू नहीं होता, सब पर लागू होता है। अतः धर्म न हिंदू है, न बौद्ध। धर्म, धर्म है। सार्वजनीन है। निसर्ग का यह नियम केवल इसी वर्तमान काल में सब पर लागू नहीं होता, पूर्व काल में भी लागू होता था और भविष्य में भी सब पर समान रूप से लागू होगा। अतः यह सार्वकालिक है। धर्म सनातन है।

अच्छा हो, यदि हम इस शुद्ध सनातन धर्म को हिंदू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, मुस्लिम, ईसाई आदि नामों से न पुकारें। शुद्ध धर्म को इन साम्प्रदायिक विशेषणों से मुक्त रखें; जाति, गोत्र, कुल, वंश और सर्वअहितकारिणी वर्ण-विभाजक व्यवस्था से मुक्त रखें जिससे कि मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक स्नेह-सौमनस्यता के बीच धर्म के नाम पर कोई दरार न पड़ने पाए। इसी में सब का मंगल है, इसी में सब का कल्याण है।

२. बुद्ध और धर्म

जब कोई व्यक्ति सम्यक संबुद्ध बनता है, चाहे सिद्धार्थ गौतम हो अथवा कोई और, तो वह कदापि कोई संप्रदाय स्थापित नहीं करता। शुद्ध धर्म ही लोगों को सिखाता है। शुद्ध धर्म याने कुदरत का वह कानून जो सब पर एक जैसा लागू होता है, जो किसी का पक्षपात नहीं करता। विश्व में कोई बुद्ध बने या न बने, यह कानून सदैव अपना काम करते रहता है। पर जब कोई व्यक्ति बुद्ध बन जाता है तो स्वानुभूति से इस कानून की बारीकियों को जान लेता है और दुखियारी जनता, जो इसे भूल बैठी थी, उसे समझाता है। धर्म धारण करने की प्रेरणा और उपाय देता है। कालांतर में लोग अनुभूतियों से समझ में आने वाली इन बारीकियों को खो बैठते हैं और उस शिक्षा को महज भावावेश या बुद्धिविलास का विषय बना लेते हैं। तब इसी से भिन्न-भिन्न संप्रदायों का प्रजनन और संगठन होने लगता है।

वास्तविक ब्रह्मयान

भगवान गौतम बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना।

उन दिनों जानुश्रोणी नामका एक अत्यंत धनवान ब्राह्मण श्रावस्ती में रहता था। लगता है लोगों पर अपने धनवान होने की छाप डालने के लिए वह कभी-कभी अपने वैभव का प्रदर्शन किया करता था। एक बार वह अत्यंत मूल्यवान और चित्ताकर्षक रथ पर सवार हो कर नगर में से गुजरा। लोगों ने देखा उसके रथ में दो उजले सफेद घोड़े जुते हैं। रथ भी उजला सफेद और उसके सारे साज भी उजले सफेद। लगाम, चाबुक, चँदवा, गादी सभी उजले सफेद। और स्वयं जानुश्रोणी भी उजले सफेद वस्त्र और उजले सफेद जूते पहने था। उस पर उजले सफेद चँवर डुलाए जा रहे थे।

यह दृश्य देख कर लोग कहने लगे, ''कितना सुंदर रथ है मानो ब्रह्मयान ही धरती पर उतर आया हो!''

भिक्षाटन के लिए गये भिक्षु आनंद ने यह सब देखा, सुना तो गोचरी से लौटने पर, जेतवन पहुँच कर उसने भगवान बुद्ध से पूछा, ''भन्ते भगवान! बुद्धों की धर्म-शिक्षा में ब्रह्मयान की क्या व्याख्या है?''

भगवान ने कहा, ''यह जो आर्य अष्टांगिक मार्ग है, यही ब्रह्मयान है, यही धर्मयान है, यही सर्वोत्तम संग्राम विजय है।''

सम्यक संबुद्ध आर्य अष्टांगिक मार्ग ही सिखाते हैं। शील, समाधि, प्रज्ञा का सार्वजनीन मार्ग। यही धर्मयान है। यही ब्रह्मयान है। इस यान [याने रथ] पर सवार हो साधक आर्यमार्ग की यात्रा करता है। अपने भीतर के तीनों दुश्मन– राग, द्वेष और मोह पर प्रहार करता है। उन्हें परास्त कर देता है, समाप्त कर देता है और इस सर्वोत्तम संग्राम-विजय द्वारा मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण के अंतिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है। ब्रह्मयान याने आर्य अष्टांगिक मार्ग इसी हेतु है।

अपने साढ़े तीन हाथ की काया में तन और मन के प्रपंच का समतापूर्वक यथाभूत निरीक्षण करते हुए साधक अपने दर्शन को सम्यक करता है। इसी प्रकार अपने चिंतन मनन को, अपने वाचिक कर्मों तथा आजीविका को सम्यक करता है। वह अपने पुरुषार्थ को, सजगता को और समाधि को सम्यक कर लेता है। आर्य मार्ग के इन आठ अंगों को सम्यक करके वह अपने भीतर के राग, द्वेष और मोह को जड़मूल से उखाड़ फेंकता है।

ऐसे धर्मयान पर सवार हो कर कोई भी व्यक्ति संग्राम विजयी हो सकता है और जीवन्मुक्त अरहंत की उस अवस्था पर पहुँच सकता है जहां उल्लासभरे चित्त से यह घोषणा कर सके कि–

विक्खीणो जाति संसारं नत्थिदानी पुनब्भवो।

– मेरा भव संसार नष्ट हुआ। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा।

धर्मयान पर यात्रा करने वाला व्यक्ति कोई भी हो। सारिपुत्र ब्राह्मण हो अथवा अनिरुद्ध क्षत्रिय हो अथवा भल्लिय वैश्य हो अथवा उपालि नाई हो अथवा सुनीत भंगी हो अथवा सोपाक चांडाल हो अथवा अंगुलिमाल हत्यारा हो अथवा अंबपालि वेश्या हो, हरएक के लिए धर्मयान वही है। आर्य अष्टांगिक मार्ग वही है जो कि हरएक को वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह बना कर गंतव्य मोक्ष अवस्था तक पहुँचा देता है, जरा भी भेदभाव नहीं करता।

भगवान ने इस धर्मयान की विशद व्याख्या करते हुए कहा–

''ऐसा है यह धर्मयान जिसमें श्रद्धा और प्रज्ञा धर्म सदैव जुते रहते हैं। लज्जा जिसका दंड है, मन जिसकी लगाम है और स्मृति [सजगता]

जिसका रक्षक सारथी है, शील जिसकी सजावट है, ध्यान जिसका अक्ष है, वीर्य [पुरुषार्थ] जिसके चक्के हैं, समता और समाधि जिसकी धुरी हैं, निष्कामता जिसका चँदोवा है, अद्वेष अहिंसा, विवेक जिसके अस्त्र-शस्त्र हैं। सहिष्णुता जिसकी गद्दी है, जो योगक्षेम के लिए ही स्थित है।

धीर पुरुष स्वयं ऐसा धर्मयान बन कर सारे लोकों के पार निकल जाता है। यही उसकी परम जय-विजय है।''

इस विशुद्ध धर्मयान में न कहीं कोई कर्मकांडों का कंटक है, न किसी पूजापाठ का विधि-विधान; न कोई अंधभक्तिजन्य भावावेश, न कोई जाति-पाँति का जंजाल, न कोई छूआछूत का रोग, न कोई वर्ण-गोत्र या ऊंच-नीच के भेदभाव की जकड़न है। इसमें न कोई सांप्रदायिक बेड़ियां हैं, न कोई कल्पनाजन्य दार्शनिक मान्यताओं की भूल-भुलैया है। न कोई व्रत-उपवासों की अतिचर्या है और न कोई वेश-भूषा या बाह्य आडंबरों का मिथ्या प्रदर्शन है। शुद्ध स्वच्छ साधना का धर्मयान है यह।

दुखियारे लोगों को भव दुखों से नितांत दुःख-विमुक्त होने के लिए ही सभी बुद्ध ऐसा शुद्ध, स्वच्छ, श्वेत धर्मयान देते हैं। लेकिन समय बीतने पर लोग संप्रदायों में उलझ जाते हैं। धर्मयान तो छूट जाता है और उसकी जगह सांप्रदायिक यान प्रमुख हो जाते हैं। जैसे हीनयान, महायान, वज्रयान, तंत्रयान, मंत्रयान, यंत्रयान, सिद्धयान, सहजयान और न जाने कितने यान।

यह सभी यान अपने-अपने संप्रदाय-विशेष से जुड़े रहते हैं। पर धर्मयान किसी संप्रदाय से नहीं जुड़ता। वह तो सब का होता है।

आज के परिवेश में चाहे कोई हिंदू हो या मुस्लिम, जैन हो या बौद्ध, सिक्ख हो या पारसी, ईसाई हो या यहूदी शुद्ध धर्मयान बड़ी आसानी से ग्रहण कर सकता है और निश्चय ही नितांत दुःखविमुक्त हो सकता है।

आओ साधको! सांप्रदायिक जंजालों से छुटकारा पा कर शुद्ध धर्मयान अपनाएं और अपनी स्वस्ति-मुक्ति साधें!

धर्माचरण ही ब्रह्माचरण

धर्म का अर्थ है ऋत, निसर्ग का नियम, कुदरत का कानून। हम मन में विकार पैदा करें तो कुदरत के कानून के अनुसार तत्काल दंड मिलता है, हम व्याकुल हो जाते हैं। विकारों से मुक्त हो तो कुदरत के कानून के अनुसार तत्काल पुरस्कार मिलता है, हम सुख शांति से भर जाते हैं।

जो व्यक्ति कुदरत के इस कानून को समझते हुए अपनी जीवनधारा इस प्रकार ढाल ले जिससे कि विकारों से मुक्त रहता हुआ स्वयं भी सुख शांति का अनुभव करे तथा औरों की भी सुख शांति बनाये रखने में सहायक हो, तो वह व्यक्ति सही माने में धर्मवान कहलायेगा। शुद्ध चित्त रहने के कारण वह स्वभाव से ही मैत्री, करुणा, मुदिता और समताभाव का जीवन जियेगा। उसके मन में स्वभाव से ही सभी प्राणियों के प्रति सद्भावना रहेगी। ऐसा व्यक्ति सदाचरण का जीवन जीता है। काया, वाणी, चित्त से कोई ऐसा काम नहीं करता जो अन्य प्राणियों की सुख शांति भंग करे। ऐसे व्यक्ति का जीवन धर्म का जीवन है। ऐसा जीवन महान है, श्रेष्ठ है। अतः धर्म का एक अर्थ हुआ श्रेष्ठ, महान।

ब्रह्मलोक के प्राणी ब्रह्मा सदा धर्म का जीवन जीते हैं, पवित्र जीवन जीते हैं, चित्त को विकार-विहीन रखते हैं। सदा अनंत मैत्री, अनंत करुणा, अनंत मुदिता, अनंत समताभाव में विहार करते हैं। ये चारों इसीलिए ब्रह्मविहार कहलाते हैं। ऐसा जीवन श्रेष्ठ है, महान है। इसलिए ब्रह्म शब्द का एक अर्थ हुआ श्रेष्ठ, महान।

इसलिए धर्म और ब्रह्म शब्द समानार्थी हुए। ब्रह्मयान धर्मयान कहलाया, धर्मयान ब्रह्मयान कहलाया। धर्मचक्र प्रवर्तन को ब्रह्मचक्र प्रवर्तन भी कहा गया। जिनका जीवन धर्ममय हो गया ऐसे सम्यक संबुद्ध धर्मकाया कहलाए। ब्रह्मकाया कहलाए। धर्मभूत कहलाए, ब्रह्मभूत कहलाए। धर्माचरण ही ब्रह्माचरण कहलाया। ब्रह्मारचण धर्माचरण कहलाया।

ब्रह्मचर्य का एक संकुचित अर्थ तो काम-भोग, मैथुन से विरत रहना है। परंतु इसका व्यापक अर्थ धर्मचर्या ही है। भगवान के पास लोग ब्रह्मचर्यवास के लिए आते थे तो काम-भोग, मैथुन से तो विरत रहते ही थे परंतु संपूर्ण धर्म का पालन करते हुए मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाते थे।

जब भगवान से किसी ने पूछा कि लोग ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्य कहते हैं – यह ब्रह्मचर्य है क्या ? और क्या है इसका परिणाम ? तो भगवान ने उत्तर दिया,

"आर्य अष्टांगिक मार्ग ही ब्रह्मचर्य है।"

आर्य अष्टांगिक मार्ग माने धर्ममार्ग। सांप्रदायिकता से दूर ऐसा सार्वजनीन धर्ममार्ग जिस पर चल कर कोई भी व्यक्ति आर्य बन सकता है, संत बन सकता है, जीवन्मुक्त बन सकता है।

धर्ममार्ग पर चलने वाला साधक सम्यक दर्शन जगाता है। अपने भीतर तटस्थभाव से देखता है कि भीतर व्याकुलता है और इस व्याकुलता का कारण

तृष्णा याने राग, द्वेष और मोह है। इस व्याकुलता का अंत किया जा सकता है यदि राग, द्वेष और मोह का अंत कर दिया जाय। यों दर्शन सम्यक कर ले तो संकल्प सम्यक हो जाते हैं। वाणी सम्यक हो जाती है। शारीरिक कर्म सम्यक हो जाते हैं। आर्जीविका सम्यक हो जाती है। परिश्रम-पुरुषार्थ सम्यक हो जाते हैं। सजगता सम्यक हो जाती है और समाधि सम्यक हो जाती है।

धर्म के इन आठों अंगों को सम्यक करने का अर्थ है – राग से, द्वेष से, मोह से नितांत विमुक्त हो जाना।

इसलिए भगवान ने कहा, ''ब्रह्मचर्य की अंतिम परिणति है रागक्षय, द्वेषक्षय, मोहक्षय।''

यही ब्रह्मचर्या है, यही धर्मचर्या है।

यही सार्वजनीन धर्म है। किसी संप्रदाय में दीक्षित करने वाला धर्म नहीं। कोई बुद्ध होगा तो सार्वजनीन धर्म ही सिखायेगा। संप्रदाय की उलझन में किसी को नहीं उलझायेगा।

साधको ! संप्रदाय की जंजीरों से छुटकारा पा कर सार्वजनीन धर्म ही अपनायें, इसी में मंगल-कल्याण सामाया हुआ है।

धर्म धारण करें

कोई व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, जीवन्मुक्त महापुरुष होगा तो हमें यही शिक्षा देगा कि हम शील-सदाचार का पालन करें। याने वाणी और शरीर से ऐसा कोई काम नहीं करें जिससे अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुँचे, उनकी सुख-शांति भंग हो। हत्या, चोरी और व्यभिचार नहीं करें। झूठी, कड़वी, परनिंदा और चुगली की तथा निरर्थक बात नहीं बोलें। इन सबसे बचे रहने के लिए हम किसी मादक पदार्थ का सेवन नहीं करें।

किसी भी बुद्ध की यह शिक्षा सार्वजनीन धर्म का प्रथम चरण है। इसका किसी भी संप्रदाय से गठबंधन नहीं। बात सार्वजनीन है, सब के हित की है। इसे पालन करने के लिए किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित होने की कतई आवश्यकता नहीं। किसी भी संप्रदाय अथवा जाति का व्यक्ति हो, वह स्वयं सोच कर देखेगा कि मुझे शरीर और वाणी के ऐसे दुष्कर्म क्यों नहीं करने चाहिए ? सोचेगा तो यह बात खूब समझ में आयेगी। एक तो यह कि जब कोई अन्य व्यक्ति मेरे प्रति पीड़ाजनक व्यवहार करता है तो मुझे बहुत अप्रिय लगता है। ऐसे ही मेरे द्वारा किसी के प्रति किया गया पीड़ाजनक व्यवहार उस व्यक्ति को भी उतना ही अप्रिय लगता होगा। औरों

के जो कर्म मुझे प्रिय नहीं लगते, वैसे ही कर्म मैं स्वयं औरों के प्रति क्यों करूं ? दूसरे यह कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे परिवार में, समाज में रहना है। कोई गृहत्यागी हो तो भी उसका समाज से संबंध नहीं टूटता। अतः मुझे जब समाज के अन्य लोगों के साथ रहना है तो अन्य लोगों की सुख-शांति की व्यवस्था भंग नहीं करनी चाहिए। ऐसा करूंगा तो चारों ओर अशांति और अव्यवस्था का ही वातावरण पैदा कर लूंगा। अपने चारों ओर आग लगा लूंगा। ऐसे परिवेश मे रहते हुए मैं कैसे स्वयं शीतलता का अनुभव कर सकूंगा ? कैसे स्वयं सुख-शांति का जीवन जी सकूंगा ? सुख-शांति का जीवन तो सभी जीना चाहते हैं। अतः अपनी सुख-शांति के लिए ही मुझे औरों की सुख-शांति नहीं भंग करनी चाहिए। मुझे शील-सदाचार का जीवन जीना चाहिए।

अपना भला चाहने वाला व्यक्ति यह भी बखूबी समझने लगता है कि शरीर और वाणी से दुष्कर्म करने के पहले उसे अपनी चित्तधारा में विकार जगाने पड़ते हैं। जैसे हत्या करने के पहले क्रोध, द्वेष, दुर्भावना आदि; चोरी करने के पहले लोभ; व्यभिचार करने के पहले वासना; झूठ, कटु वचन बोलने के पहले भय, अहंकार आदि विकार जगाने पड़ते हैं। मन में जब विकार जगाता हूं तब स्वयं व्याकुल हो जाता हूं। अतः समझने लगता है कि सदाचार का जीवन जी कर मैं औरों पर एहसान नहीं कर रहा, बल्कि अपने ही तात्कालिक लाभ के लिए ऐसा कर रहा हूं। मेरा सही स्वार्थ शील-सदाचार का जीवन जीने में ही है।

इतनी सी बात समझ में आ जाय तो कोई भी समझदार व्यक्ति शील-सदाचार का जीवन जीना चाहेगा ही। परंतु जीए कैसे ? इसमें अनेक कठिनाइयां आती हैं। समय-समय पर अनेक विषम परिस्थितियां उसे कोई न कोई-सा शील तोड़ने के लिए मजबूर कर देती हैं। न चाहते हुए भी वह परिस्थितियोंवश हत्या भी करता है, चोरी भी, व्यभिचार भी, मादक पदार्थ का सेवन भी और अनुचित वाणी भी बोल देता है। ऐसा करके फिर पछताता है। परंतु इस पछताने से कोई लाभ नहीं होता। परिस्थितियों के आधीन बार-बार ऐसे अकरणीय कर्म करता ही जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वह अपने मन का मालिक नहीं है। उसका मन उसे जैसा नाच नचाये वैसा नाचता है।

यह मानसिक दुर्बलता किसी संप्रदाय विशेष या जातिविशेष के व्यक्ति की तो होती नहीं। यह कमजोरी तो सब की है। इसे सभी दूर करना चाहेंगे। इसीलिए कोई शुद्ध-बुद्ध मुक्त पुरुष शील-सदाचार का कोरा उपदेश दे कर

नहीं रह जाता। वह सार्वजनीन धर्म का अगला कदम सिखाता है। मन को कैसे समाधिस्थ करें। उसे कैसे अपने वश में करें। इसके लिए जितने उपाय सिखाता है वे सब के सब सार्वजनीन होते हैं। किसी संप्रदाय से जुड़े नहीं होते। इनमें से सबसे सरल और प्रभावशाली उपाय श्वास-निरीक्षण का है। साधक अपने स्वाभाविक श्वास के आवागमन को जानने का अभ्यास करना सीखता है। इसके साथ कोई शब्द अथवा काल्पनिक रूप या आकृति नहीं जोड़ता। श्वास पर नियंत्रण भी नहीं करता। महज कुदरतन श्वास की सहज स्वाभाविक गतिविधि के प्रति सतत सजग रहने का अभ्यास करता हुआ धीरे-धीरे अपने मन को वश में करने लगता है। मन को वश में करने की यह विधि कोई भी अपना सकता है और इसके अभ्यास द्वारा उतना ही लाभान्वित हो सकता है। किसी जाति या संप्रदाय का व्यक्ति हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। इस विधि को अपनाने के लिए भी किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती। धर्म का यह दूसरा चरण भी उतना ही सार्वजनीन है जितना कि पहला।

मन को वश में कर लेना अच्छा है। इससे सारी इंद्रियों पर संवर-संयम करना आ जाता है। आँख, कान, नाक, जिह्वा और शरीर पर संवर-संयम करना आ जाता है। मन को वश में करना बहुत कल्याणकारी होता है। इससे आदमी शरीर और वाणी के दुष्कर्म करने से बचता है। परंतु इससे मन की गहराइयों तक सफाई नहीं हो पाती। मन का संवर करने से मानसिक विकारों का दमन तो हो जाता है, पर शमन नहीं होता। उनका निर्मूलन नहीं होता। संवर-संयम और दमन द्वारा दबाये गये विकार मानस की तलस्पर्शी गहराइयों में सोये हुए चित्तधारा के साथ प्रवाहमान होते रहते हैं। इन अनुशय विकारों का निष्कासन किये बिना चित्त नितांत निर्मल नहीं हो सकता। चित्त नितांत निर्मल हुए बिना राग-द्वेष की प्रतिक्रिया करने का उसका स्वभाव नहीं छूटता।

अतः जो शुद्ध, बुद्ध जीवन्मुक्त महापुरुष होता है वह धर्म का यह तीसरा चरण भी सिखाता है। स्वयं अपने भीतर का होश जगा कर इन अनुशय-क्लेशों का, आस्रवों का उन्मूलन करना सिखाता है। इस काम के लिए भी जो विद्या सिखाता है वह सार्वजनीन होती है। किसी भी संप्रदाय या जाति का व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के इसका अभ्यास कर सकता है और एक जैसा लाभ हासिल कर सकता है। इस विद्या के अभ्यास के लिए भी उसे किसी संप्रदाय में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती।

इस विपश्यना विद्या का अभ्यास करता हुआ साधक अंतर्मुखी हो कर

क्षण-प्रतिक्षण अपने चित्त तथा उस पर जागते हुए विकारों की रेल-पेल को देखता है और साथ-साथ अपने शरीर तथा उस पर जागने वाली विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का निरीक्षण करता है। इन संवेदनाओं के प्रति भोक्ताभाव हटाता हुआ तटस्थ साक्षीभाव पुष्ट करता है। अपनी अनुभूतियों से देखता है कि शरीर और चित्त का प्रपंच किस प्रकार एक दूसरे से प्रभावित होता रहता है। देखता है प्रिय अनुभूति के प्रति राग और अप्रिय अनुभूति के प्रति द्वेष की प्रतिक्रिया करने का अंतर्मन का स्वभाव कैसे अपने ही अंधेपन में पुष्ट हुए जा रहा है। देखता है शरीर और चित्त जो इतने परिवर्तनशील हैं, जो मैं नहीं, मेरे नहीं, फिर भी एक मिथ्या अहं के कारण इनके प्रति तादात्म्यभाव स्थापित करते हुए आसक्ति पैदा कर रहा है और परिणाम स्वरूप अपने लिए दुःख का ही सृजन कर रहा है। यों अपने मन के हानिकारक स्वभाव का निरीक्षण करते करते साधक इस अंधी स्वभाव-श्रृंखला को तोड़ता है। अनुशय राग और द्वेष के सभी विकारों को जड़ से उखाड़ता है। जब-जब इन विकारों में उभार आता है तब-तब साधक समता में स्थित रहता है। इस प्रकार उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है। वे उखड़ते जाते हैं। यों विकार-विमुक्त हुआ साधक स्वतः ही सहजभाव से मैत्री, करुणा, मुदिता और तटस्थता के उदात्त भावों से भर उठता है। विकारों से मुक्त हो कर स्वयं दुःखों से मुक्त होता है तथा औरों को दुःखी बनाने वाले दुष्कर्मों से सहज मुक्त हो जाता है। अपना भी भला करता है औरों का भी भला करता है। आदमी अच्छा आदमी वन जाता है, नेक इन्सान बन जाता है, सज्जन बन जाता है, संत बन जाता है। ऐसा व्यक्ति किसी संप्रदाय में दीक्षित नहीं होता। शुद्ध धर्म में दीक्षित होता है।

साधको ! सांप्रदायिकता विहीन ऐसे शुद्ध धर्म को धारण करने में कहीं कोई हिचकिचाहट न हो, जो सर्वजन हितकारी है, सर्वजन मंगलकारी है। आओ ! उस सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक धर्म को धारण करें और अपना भी मंगल साधें, औरों का भी मंगल साधें !

अमित असीम धर्म

जब कोई व्यक्ति बुद्ध होता है, जीवन्मुक्त होता है, परम परिशुद्ध होता है तो धर्म ही सिखाता है, बौद्ध धर्म नहीं। बौद्ध धर्म तो केवल बौद्धों का ही होगा न ? ठीक वैसे ही कि जैसे हिंदू धर्म केवल हिंदुओं का है,

जैन धर्म केवल जैनियों का, मुस्लिम धर्म मुसलमानों का, ईसाई धर्म ईसाइयों का, सिक्ख धर्म सिक्खों का, पारसी धर्म पारसियों का, यहूदी धर्म यहूदियों का इत्यादि। ऐसे ही बौद्ध धर्म केवल बौद्धों का ही है।

परंतु बुद्ध की शिक्षा तो सब के लिए होती है केवल बौद्धों के लिए नहीं। वह मनुष्य मनुष्य में भेदभाव नहीं करती। बुद्ध की शिक्षा मानव समाज को जाति-पांति के, ऊंच-नीच के विभाजनों में विभाजित नहीं करती। जहां जाति-पांति का भेदभाव हो तो वह उसे तोड़ती है। बुद्ध की शिक्षा मनुष्य को अलग-अलग संप्रदायों के बाड़े में नहीं बांधती। वह तो विभिन्न संप्रदायों के बाड़ों में बँधे हुए और गड़रियों जैसे नेताओं द्वारा भेड़-बकरियों की तरह हांके जाते हुए लोगों को इन बंधनों से मुक्त करती है। आदमी को स्वतंत्र-स्वाधीन बनाती है। हर एक को अपने पांव पर खड़ा होना सिखाती है। पराधीनता तोड़ती है। वह किसी एक संप्रदाय समाज तक सीमित नहीं रह सकती।

कोई बुद्ध होता है तो धर्म सिखाता है जिसे **अप्पमाणो धम्मो** याने अमित असीम धर्म कहा जाता है। उसके साथ ''बौद्ध'' विशेषण लगाना उस ''अप्पमाणो'' को ''पमाणो'' वना देना है। असीम को ससीम बना देना है। धर्म को संप्रदाय में वदल देना है। ऐसा करेंगे तो धर्म का अवमूल्यन हो जायगा। अपरिमित धर्म को अपनी नैसर्गिक ऊंचाइयों से उतार कर उसे बौना बना देंगे। इसलिए किसी भी बुद्ध की शिक्षा को धर्म ही कहना समीचीन है वौद्ध धर्म नहीं।

क्योंकि बुद्ध की शिक्षा तो अप्पमाणो है, असीम है, अपरिमित है। बुद्ध की शिक्षा है :–

१. **सब्ब पापस्स अकरणं**– *सभी पापों को न करें।* याने ऐसे काम न करें जो औरों को हानि पहुँचाये और अपना मन भी मैला करे तथा अपना अकुशल करे।

२. **कुसलस्स उपसम्पदा**– *कुशल कर्मों को संपादित करें, उनका संचय-संग्रह करें।* याने ऐसे काम करें जो औरों का भी भला करे और अपना भी कुशल करे।

३. **सचित्तपरियोदपनं**– *अपने चित्त को पूर्णतया धोते रहें, शुद्ध करते रहें।* याने राग, द्वेष और मोह तथा तज्जनित सभी विकारों को दूर करते रहें।

इन तीनों शिक्षाओं में संप्रदाय की सीमा कहां से आयी भला ? मनुष्य मनुष्य के विभाजन की सीमा कहां से आयी ? यह तीनों की तीनों सार्वजनीन शिक्षाएं हैं। अकुशल कर्मों से सभी को वचना चाहिए। केवल किसी एक संप्रदाय

या जाति के व्यक्तियों को ही नहीं। इसी प्रकार कुशल कर्म सभी को करना चाहिए। चित्त के मैल भी सभी को धोने चाहिए। शील, समाधि और प्रज्ञा की यह तीनों शिक्षाएं सभी के लिए हैं। इसी माने में अप्पमाणो हैं, अपरिमित हैं, असीम हैं। किसी संप्रदाय या जाति के वाड़े में वँधी हुई नहीं हैं।

और यही तीन तो बुद्ध की शिक्षाएं हैं, बुद्ध का शासन है–

एतं बुद्धान सासनं।

और ये किसी एक बुद्ध की शिक्षा नहीं। किन्हीं दो की नहीं, सौ की नहीं; सभी बुद्धों की शिक्षा है। सभी बुद्धों का यही शासन है। केवल गौतम तक सीमित नहीं। जो वोधि प्राप्त कर ले वही बुद्ध। कोई बुद्ध हो, यही सार्वजनीन शिक्षा देता है। लोगों को यही सार्वजनीन धर्म सिखाता है। उसकी शिक्षा किसी संप्रदाय तक सीमित नहीं रहती। किसी नर, नारी, जाति, गोत्र आदि के समूह तक सीमित नहीं रहती। इसी माने में सदा सार्वजनीन होती है।

वह किसी गांव, नगर, प्रदेश, देश अथवा किसी भूखंड तक सीमित नहीं रहेगी। इसी माने में सार्वदेशिक है, सार्वभौमिक है।

वह कभी पुरानी नहीं पड़ती, वासी नहीं हो जाती। सदा शाश्वत वनी रहती है– **सतं च धम्मो न जरं उपेति।**

भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में तरोताजा वनी रहती है। सब समय धारण करने वालों को एक जैसा सुफल देती है। इस माने में सार्वकालिक होती है।... **एस धम्मो सनन्तनो।**

किसी बुद्ध का धर्म देश, काल या व्यक्ति की सीमा में आवद्ध नहीं होता। इसी माने में **धम्म** अप्पमाणो होता है।

साधको ! कोई बुद्ध होता है तो सार्वजनीन धर्म ही सिखाता है। वह कोई संप्रदाय स्थापित नहीं करता। यदि कोई संप्रदाय स्थापित करता है तो समझ लेना चाहिए कि वह व्यक्ति बुद्ध नहीं, शुद्ध नहीं, मुक्त नहीं है। अभी उसमें कुछ कमी है। अभी स्वयं भी ससीम है, असीम नहीं हुआ।

बुद्ध तो स्वयं असीम होता है। **अप्पमाणो बुद्धो**– किसी जाति, वर्ण अथवा देश-प्रदेश की सीमा में वँधता नहीं। वह सब का होता है।

किसी ''अप्पमाणो'' बुद्ध की शिक्षा याने **अप्पमाणो धम्मो** का पालन करने वाला व्यक्ति शील, समाधि और प्रज्ञा के मार्ग पर चलते-चलते अपने चित्त को शुद्ध करता है और इसी जीवन में सभी ससीम लोकों के परे असीम इंद्रियातीत परम निर्वाणिक सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। ऐसे किसी एक व्यक्ति को भी संघ कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के समूह को भी संघ कहते

हैं। यह सभी निर्वाणदर्शी अरहंत **अप्पमाणो** होते हैं। इसीलिए संघ भी **अप्पमाणो**। ऐसे निर्मल चित्त संत को कोई जाति, वर्ण, गोत्र या संप्रदाय का वाड़ा कैसे वांध सकता है ? जैसे भिन्न-भिन्न नद-नाले गंगा में गिर कर गंगा ही वन जाते हैं। जैसे गंगा, गोदावरी, कावेरी आदि भिन्न-भिन्न नदियां समुद्र में गिर कर समुद्र ही वन जाती हैं। जैसे गुलाब, चमेली, कदंब, कमल आदि भिन्न-भिन्न फूलों से इकट्ठा किया हुआ पराग एक रस मधु ही बन जाता है, वैसे ही अप्पमाणो धर्म में समाहित व्यक्ति अपने जाति, वर्ण, गोत्र, संप्रदाय सब खो देता है और स्वयं अप्पमाणो हो जाता है। धम्म भी अप्पमाणो, धम्म सिखाने वाला बुद्ध भी अप्पमाणो और धर्म के रास्ते चल कर मुक्त हुआ संत, अरहंत संघ भी अप्पमाणो। ये तीनों अप्पमाणो हैं, असीम हैं, अपरिमित हैं। इन्हें न कोई देशकाल की सीमा, न कोई जाति, वर्ण, गोत्र व संप्रदाय की सीमा बांध सकती है।

साधको ! हमारा सद्भाग्य है कि शुद्ध, सार्वजनीन धर्म एक वार फिर जागा है। एक वार फिर पूरव से सूरज उदय हुआ है। सव को प्रकाश देने वाला, सव को जीवन देने वाला, सव के मन का अँधियार दूर करने वाला धरम का सूरज। सांप्रदायिक वेड़ियों को भंग करने वाला, जाति-पांति की दीवारों को तोड़ने वाला, कर्मकांड के कटघरों से लोगों को वाहर निकालने वाला, काल्पनिक दार्शनिक मान्यताओं के जंजालों से छुटकारा दिलाने वाला महामंगलमय धर्म। सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक सनातन धर्म।

आओ ! इसका स्वागत करें ! इसे धारण करें ! शुद्ध धर्म के शासन में अनुशाशित हों ! अपना कल्याण मंगल साध लें !

सही अहिंसक

किसी भी बुद्ध की शिक्षा का पहला कदम शील-सदाचार से आरंभ होता है और शील का भी पहला कदम **पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं...** से आरंभ होता है। पहला ही शिक्षाप्रद है कि प्राणी के प्राण-हरण करने के दुष्कर्म से विरत रहें याने प्राणिहत्या से वचें। सर्वहितकारी सार्वजनीन धर्म का यह अहिंसामूलक पहला कदम ही इतना प्रभावशाली है कि इसी को पूरी तरह समझ कर पाल लें तो संपूर्ण धर्म पाल लिया जाता है। सचमुच अहिंसा किसी भी बुद्ध की शिक्षा का प्राण है।

अहिंसा का बहुत स्थूल अर्थ है – "जानबूझ कर किसी प्राणी का हनन न करना।" यह बड़ा संक्षिप्त अर्थ है जहां से अहिंसा का काम शुरू किया जाता है।

धर्म समासतो अहिंसा वर्णयन्ति तथागताः। परंतु इस समास को याने संक्षिप्त को ही संपूर्ण मान लेगा तो साधक भटक जायगा। दूसरी ओर यह प्रारंभिक संक्षिप्त कदम ही नहीं उठायेगा तो धर्म के क्षेत्र में अनाड़ी [अनरियो] ही रह जायगा।

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति,
अहिंसा सब्ब पाणानं, अरियो'ति पवुच्चति।

किसी भी बुद्ध की शिक्षा में हिंसक ही अनार्य है और अहिंसक ही आर्य।

अहिंसा का पहला कदम उठाने के लिए कायिक संवर अनिवार्य है।

अहिंसको ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता– *वे मुनि अहिंसक हैं जो नित्य काया में संवरशील हैं।* परंतु यदि समझदार होगा तो प्राणिहिंसा से विरत रहने के इस पहले कदम पर ही अटक कर नहीं रह जायगा। वह खूब समझेगा कि केवल पाणातिपात ही नहीं, बल्कि काया द्वारा किया हुआ प्रत्येक कर्म जो किसी प्राणी का अहित करता है, उसे पीड़ित करता है वह हिंसा ही है। मसलन किसी अन्य व्यक्ति की वस्तु चुराना, लूटना, छीनना, झपटना, अपनाना हिंसा ही है। शरीर से काम संबंधी मिथ्या आचरण करना हिंसा ही है। वाणी द्वारा झूठ बोल कर किसी को ठगना; कटु, कड़वी, निंदा-चुगली की वाणी बोलना हिंसा ही है। आजीविका में भी मिथ्याचरण है तो हिंसा ही है। मसलन गृहत्यागी हो और अपने गृहस्थ दायकों को अपनी सच्ची-झूठी उपलब्धियों का मिथ्या दिखावा करके उनसे लाभ-सत्कार प्राप्त करे तो हिंसा ही है। गृहस्थ है तो अपने अन्नदाता ग्राहक को खाद्यपदार्थ, दवाएं अथवा अन्य उपभोक्ता वस्तुओं में मिलावट करके अथवा तोल, माप आदि में कमी करके ठगना हिंसा ही है। अकाल की तंगी के समय अपने धन-बल द्वारा संग्रह-संचय कर लेना और फिर लोभ के वशीभूत हो ऊंचे दामों में बेच कर उपभोक्ताओं को पीड़ित करना हिंसा ही है।

इस प्रकार की सभी कयिक और वाचिक हिंसाओं से विरत रहना किसी भी बुद्ध की अहिंसा का अगला महत्त्वपूर्ण कदम है। शरीर और वाणी को संयत कर किसी भी प्राणी का दिल न दुखाना अहिंसा है। किसी का अहित, अमंगल न करना अहिंसा है। परंतु कोई व्यक्ति मन में भी किसी को पीड़ित करने का भाव जगाता है और परिणामतः किसी अन्य के प्रति

दूषित चित्त की तरंगें प्रेषित करता है तो भी हिंसा ही करता है। जब-जब मन में हिंसा के भाव जगाता है तो अपने आप को पीड़ित ही करता है। जो चित्त को मैला कर अपना अमंगल करे, अपने आप को पीड़ा पहुँचाये वह भी हिंसा ही करता है।

इससे बचने के लिए ध्यान साधना का मार्ग है जिससे मन पर भी संवर हो और **अविहिंसा वितर्क** याने *चिंतन-मनन जनक हिंसा से भी विमुक्त हो।* इसका बुद्ध की शिक्षा में गंभीर महत्त्व है। मन में क्रोध, दुर्भावना, इर्ष्या, मात्सर्य, अभिमान आदि विकार जगाता है तो हिंसा ही करता है। इनसे विरत रहने के लिए मन पर संवर करता है तो अहिंसा और पुष्ट होती है। परंतु अभी अंतर्मन की गहराइयों में, भवंग धारा में अनेक जन्मों से सोये हुए, अनुशय-विकार कायम हैं, तृष्णा कायम है, उपादान कायम है। भीतर ही भीतर आसव का बहाव बहता रहता है। इसे दूर करने के लिए विपश्यना साधना द्वारा उनकी उदीर्णा-निर्जरा करके, उनका क्षय करके सभी विकारों से मुक्त हो जाता है तो वीतराग अरहंत हो जाता है। तब अहिंसा अपनी पूर्णता पर पहुँच जाती है। क्योंकि उसने केवल दृश्य प्राणी की हिंसा से विरत रहना ही नहीं सीखा, बल्कि काया का संवर करके वाणी और मन का भी संवर किया। सारा मानस गहराइयों तक निर्मल हो गया। निर्मल चित्त अपने स्वभाव से मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के उदात्त भावों से भरा रहने लगा। अब मन में कोई विकार जागता ही नहीं। चित्तधारा पर कोई विकार उदय होता ही नहीं। सही माने में अनारंभी हो गया, तो सही माने में अहिंसक हो गया। उसका संवर परिपूर्ण हुआ, उसका संवर सार्थक हो गया।

कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥

– काया, वाणी और मन का संवर करे तो ही कोई व्यक्ति भली प्रकार से परिपूर्ण संवर-संपन्न कहा जा सकता है।

साधक को अहिंसा का सारा क्षेत्र समझ में आता है तो इस संपूर्ण क्षेत्र की यात्रा पूरी करता है। क्योंकि जान गया है–

यो च कायेन वाचाय, मनसा च न हिंसति।
स वे अहिंसको होति, यो परं न विहिंसति॥

सचमुच ऐसा व्यक्ति ही पूर्ण अहिंसक होता है और ऐसा व्यक्ति ही–

ये यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे।

अनित्य भंगुर इंद्रिय क्षेत्र से छुटकारा पाता हुआ उस इंद्रियातीत

अवस्था का इसी जीवन में साक्षात्कार कर लेता है जो कि नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, अजर है, अमर है, अविनाशी है, शिव है, अच्युत है, निर्वाण है। जहां पहुँच कर सारी शोक-चिंताओं से मुक्ति मिल जाती है। क्योंकि वीतरागता में पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाता है, पूर्ण अहिंसक हो जाता है।

यों दृश्य प्राणी के प्रति मैत्री का भाव रख कर उसकी हत्या न करता हुआ अहिंसा का पहला कदम उठाने वाला मुमुक्षु दृश्य, अदृश्य, छोटे-वड़े, समीप के, दूर के, मनुष्य, मनुष्येतर सभी प्राणियों के प्रति अनंत मैत्री से आप्लावित हो कर अहिंसा की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। शुद्ध धर्म की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। ऐसा पूर्ण अहिंसक व्यक्ति किसी जाति, कुल, वर्ण, गोत्र, संप्रदाय व देश-काल का हो, पूर्ण धर्मिष्ठ ही होता है।

साधको! ऐसे ही धर्मिष्ठ बनें! जातीयता, सांप्रदायिकता की जंजीरों से मुक्त हो कर सच्चे धर्मिष्ठ बनें और अपना कल्याण साध लें!

शुद्ध धर्म का आकलन

किसी सम्यक संबुद्ध द्वारा प्रकाशित प्रसारित शुद्ध धर्म समय वीतते-वीतते विकृत हो जाता है तो विलुप्त ही हो जाता है। ऐसी अवस्था में जनसमाज धर्म का सही अर्थ ही भूल जाता है। उसे धारण करना तो दूर की वात रही।

किसी व्यक्ति में सामान्य शील-सदाचार का भी नामोनिशान नहीं होता, चित्त-संयम और चित्त-विशुद्धि की तो वात ही क्या? परंतु ऐसा व्यक्ति किसी जाति विशेष में जन्म पा लेने के कारण जात्याभिमान से भर उठता है। जन्म के कारण ही अपने आप को धार्मिक मान बैठता है। अन्य जाति वालों को हीन मान कर उनसे घृणा करता है। उनकी छाया भी उसे असह्य हो उठती है। धर्म अपनी अवनति की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जवकि एक जाति विशेष के लोगों द्वारा रचे हुए धर्म शास्त्र यह घोषणा करते हैं कि उनकी जाति का व्यक्ति कितना ही दु:शील, दुराचारी और दुर्गुणी क्यों न हो, लेकिन वह पूजन और मान-सम्मान का अधिकारी है। इसके विपरीत किसी अन्य जाति का व्यक्ति कितना ही शील-सदाचारी हो, सद्गुणी हो, सद्ज्ञानी हो परंतु वह पूज्य नहीं, बल्कि पशुओं की तरह प्रताड़ित किये जाने का अधिकारी है। ऐसे व्यक्तियों के लिए जातिवाद ही धर्म बन गया है। धर्म, धर्म नहीं रहा।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी संप्रदाय-विशेष में जन्मता है और अपने

आप को इस संप्रदाय-विशेष का सदस्य मान कर अभिमान से भर उठता है। अपने आप को बड़ा धार्मिक मानता है। भले उसमें शील-सदाचार का नामोनिशान न हो, चित्त-संयम और चित्त-विशुद्धि जरा भी न हो। इतना ही नहीं, वह अपने संप्रदाय के गए गुजरे से गए गुजरे को अच्छा आदमी मानता है और किसी दूसरे संप्रदाय के शीलवान, सदाचारी, गुणवान व्यक्ति को भी हेय मानता है। उसके लिए अपना संप्रदाय ही धर्म बन गया है। धर्म, धर्म नहीं रहा।

कोई व्यक्ति अपने कुल में परंपरागत पूजे जाने वाले किसी देवी, देवता, ईश्वर, ब्रह्म का विधिवत पूजन-अर्चन कर लेता है। पर्व-त्योहार मना लेता है। व्रत-उपवास कर लेता है। परंपरागत कर्मकांड कर लेता है। तीर्थाटन कर लेता है। किसी नदी, पोखर या सागर में स्नान कर लेता है और अपने आप को इसी कारण बड़ा धार्मिक व्यक्ति मान लेता है। भले वह दुःशील हो, दुराचारी हो, असंयमी हो और मैले चित्त वाला हो। अपनी परंपरा द्वारा मान्य कर्मकांडों को पूरा कर लेने के मिथ्या अभिमान में दूसरों के परंपरागत कर्मकांडों को हीन समझता है। उस व्यक्ति के लिए अपनी परंपरा वाले कर्मकांड ही धर्म बन जाते हैं। धर्म, धर्म नहीं रहता।

किसी व्यक्ति की पत्नी मर जाय अथवा उसकी संपत्ति नष्ट हो जाय अथवा उसका अपने परिवार वालों से झगड़ा हो जाय अथवा किसी क्षणिक भावावेश के समय उसमें मुमुक्षुभाव ही जाग जाय और वह घर छोड़ कर संन्यासी हो जाय तो इसी कारण अपने को महान मानने लगता है। गृहस्थों को, घर न छोड़ने वालों को तुच्छ मानता है। उनसे घृणा करता है। इन गृहत्यागने वालों में भी कोई पीला चोला पहनता है, कोई सफेद, कोई काला अथवा कोई नग्न ही रहता है। कोई सिर के बाल बढ़ाता है, कोई दाढ़ी-मूंछ बढ़ाता है और कोई उन्हें मुड़ाता है और कोई नुचवाता है। एक बाह्य आडंबर वाला व्यक्ति दूसरे बाह्याडंबर वालों को हल्का मानता है। भले उसमें शील-सदाचार, चित्त-संयम और चित्त-विशुद्धि का नाम भी न हो, पर वह अपने आप को बहुत धर्मवान मानता है। औरों से घृणा करता है। अपने भीतर अहं जगाता है। वह वेश-भूषा और बाह्याडंबर को ही धर्म मान बैठता है। शील-सदाचारी होना, चित्तसंयमी और चित्तविशुद्ध होना उसके लिए अनिवार्य नहीं रह जाता। उसके लिए धर्म, धर्म नहीं रह जाता।

इसी प्रकार एक व्यक्ति किसी एक प्रकार की दार्शनिक मान्यता मानता है। दूसरा दूसरे प्रकार की। कोई आत्मवादी है, कोई नैरात्मवादी। कोई ईश्वरवादी है कोई निरीश्वरवादी। कोई सगुण-साकारवादी है, कोई

निर्गुण-निराकारवादी है। कोई त्रैतवादी, कोई द्वैतवादी, कोई अद्वैतवादी, कोई अद्वयवादी, कोई द्वैताद्वैतवादी, कोई विशिष्टाद्वैतवादी। यों भिन्न-भिन्न मतवादी व्यक्ति अपने दार्शनिक मतवाद को ही धर्म मानता है और उस-उस मत को केवल मानने के कारण ही अपने आप को धर्मवान मान लेता है। चाहे उसमें शील-सदाचार का नामोनिशान न हो। चाहे उसमें चित्त की न एकाग्रता हो, न निर्मलता। उसके लिए धर्म, धर्म नहीं रहा।

यों जाति, संप्रदाय, वेशभूषा, कर्मकांड अथवा दार्शनिक मान्यता को ही धर्म मानने वाला व्यक्ति अक्सर शुद्ध धर्म से वंचित रह जाता है। उनमें से ही कोई ऐसा भी निकलता है जो बुरे से बुरा काम करते हुए भी नहीं हिचकता। 'मेरा धर्म खतरे में है' 'मेरे धर्म की रक्षा करनी है' यों धर्म के नाम पर धर्मान्धता और भावावेश जगा कर किसी अन्य संप्रदाय के नितांत निर्दोष व्यक्ति की हत्या करते हुए, उसका खून बहाते हुए, आगजनी करते हुए, बलात्कार करते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता। बल्कि इस दुष्कर्म करने में बड़ा पुण्य, बड़ा शबाब, बड़ा गौरव मानता है। यों छिलके प्रमुख, प्रबल हो जाते हैं और शुद्ध धर्म का सार छूट जाता है। उसका पालन किया जाना बिल्कुल छूट जाता है। अतः धर्म के नाम पर पाप फैलता है, दुराचार फैलता है।

ऐसे समय कोई व्यक्ति बुद्ध होता है अथवा कोई बोधिसत्व बुद्ध बनने के मार्ग पर आरूढ़ होता है तो शुद्ध सार्वजनीन धर्म की पुनर्स्थापना करता है। धर्म के नाम पर भूले-भटके लोगों को सही धर्म का रास्ता दिखाता है, लोक-मंगल करता है, लोक कल्याण करता है। कोई सचमुच बुद्ध होगा तो शुद्ध सार्वजनीन धर्म की ही स्थापना करेगा। बौद्ध धर्म की नहीं, बौद्ध संप्रदाय की नहीं। अन्यथा वह बुद्ध नहीं होगा। किसी संप्रदाय की अथवा किसी मत मतांतर की स्थापना करने वालों में से एक होगा।

शुद्ध धर्म की स्थापना करेगा तो सार और छिलके का भेद बतायेगा, सार ग्रहण करना सिखायेगा और छिलकों को निस्सार समझ कर त्यागना सिखायेगा। धर्म का सार है शील-सदाचार का जीवन, चित्त पर संयम और चित्त की शुद्धता। धर्म के सिद्धांतों को स्वीकार कर लेना मात्र ही धर्म नहीं है। धर्म को धारण करने वाला व्यक्ति ही सही माने में धार्मिक है। अतः कोई बुद्ध होगा तो धर्म के इस सार को केवल स्वीकार करना ही नहीं सिखायेगा बल्कि उसे धारण करना सिखायेगा।

समाज में जाति-पांति के आधार पर ऊंच-नीच की मान्यता शुद्ध धर्म के बिल्कुल विरुद्ध होती है, यद्यपि शुद्ध धर्म के क्षेत्र में भी कोई व्यक्ति

ऊंचा और कोई नीचा अवश्य होता है। पर उसको मापने का मापदंड यही है कि जो व्यक्ति धर्म धारण करने में जितना अधिक सबल हुआ, वह व्यक्ति उतना ही ऊंचा है। जो व्यक्ति धर्म धारण करने में जितना दुर्वल है, वह उतना ही नीचा है। परंतु जो व्यक्ति धर्म धारण करने में दुर्वल होने के कारण औरों से नीचा है, उसे छूट है, पूरी सहूलियत है कि वह धर्म धारण करने में सवल वने; याने शीलवान, समाधिवान और प्रज्ञावान बने और इस प्रकार ऊंचा बने। अपने चित को नितांत निर्मल करता हुआ वीतराग बने, अरहंत बने, वुद्ध बने और धर्म के क्षेत्र में सबसे ऊंचा बने, सब का पूज्य बने। ऐसा बनने में उसके लिए कोई वाधा नहीं, रुकावट नहीं, मुमानियत नहीं। जाति या संप्रदाय के वाड़े उसे रोक नहीं सकते।

यदि ऐसा है तो ही धर्म शुद्ध धर्म है। धारण करने योग्य है। सर्वजन हितकारी धर्म है।

आओ साधको ! ऐसा सार्वजनीन मांगलिक धर्म धारण करें और अपना तथा औरों का मंगल साधें।

बुद्ध किसे कहते हैं

भगवान गौतम बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना।

तव भगवान राजगृह के वेणुवन में विहार कर रहे थे। सभिय नाम का एक परिव्राजक अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए अनेक आचार्यों के पास गया पर असंतुष्ट ही रहा। अंततः भगवान गौतम बुद्ध से मिल कर उनके समक्ष अपने प्रश्न रखे। उन प्रश्नों में एक प्रश्न था –

बुद्धो कथं पवुच्चति ? *याने बुद्ध किसे कहते हैं ?*

भगवान ने उत्तर दिया : –

कप्पानि विच्चेय्य केवलानि – *तृष्णा के संपूर्ण क्षेत्र का विश्लेषण करके,*

संसार दुभयं चुतुपपातं – *जिसने संसारचक्र [प्रपंच] की उत्पत्ति और विनाश दोनों को जान लिया है,*

विगतरजमनङ्गणं विसुद्धं – *जो चित्तमैल से विमुक्त हो गया है, जो विशुद्ध विमल है,*

पत्तं जातिक्खयं – *जिसने जन्म-क्षय की अवस्था प्राप्त कर ली है,*

तमाहु बुद्धन्ति – *उसे बुद्ध कहते हैं।*

परिव्राजक सभिय को यह व्याख्या बहुत भायी। ऐसा व्यक्ति कोई

भी क्यों न हो, वुद्ध ही कहलायेगा। बुद्ध की कैसी गुणवाचक सार्वजनीन धर्ममयी व्याख्या!

परिव्राजक सभिय ने इसी प्रकार भिक्खु, व्राह्मण, श्रमण, परिव्राजक, श्रोत्रिय, आर्य, पंडित, वेदज्ञ आदि शब्दों की भी सही व्याख्या जाननी चाही। भगवान ने इनकी भी गुणवाचक सार्वजनीन धर्ममयी व्याख्याएं की, जव कि यह सभी शब्द लोकीय क्षेत्र में अधिकांशतः संप्रदायवाचक ही हो गये थे। भगवान सम्यक संबुद्ध ने इन श्रेष्ठ गुणवाचक शब्दों को संप्रदायवादी दलदल के बाहर निकाला और इनकी सांप्रदायिकता विहीन शुद्ध धार्मिक व्याख्या की।

सांप्रदायिक व्याख्या होती तो भिन्न-भिन्न वेश-भूषा, जाति, वर्ण, गोत्र, कर्मकांड और बुद्धि-कल्पनाजन्य दार्शनिक मत मतांतरों पर आधारित होती। जबकि शुद्ध धर्ममयी व्याख्या केवल सद्गुणों पर आधारित है।

सभिय इन व्याख्याओं से अत्यंत प्रभावित हुआ और भगवान के शासन में याने उनकी शिक्षा में प्रव्रजित हुआ।

जो भी बुद्ध होंगे, वह धर्मवादी ही होंगे, संप्रदायवादी नहीं। उनकी प्रसिद्धि इन शब्दों में नहीं होगी कि वह–

सङ्घीचेव गणी च गणाचरियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो।

बल्कि इन शब्दों में होगी –

इतिपि सो भगवा – *वह समस्त राग, द्वेष और मोह को भग्न करके मुक्ति के ऐश्वर्य का जीवन जीते हैं, इस माने में भगवान हैं।*

अरहं – *वह अहंकार ममंकार जैसे सभी चित्तमैलरूपी दुश्मनों का हनन कर चुके होते हैं, इस माने में अरहंत हैं।*

सम्मा सम्बुद्धो – *भली प्रकार से स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा याने स्वयंभू बुद्ध हैं इस माने में सम्यक संवुद्ध हैं।*

विज्जाचरणसम्पन्नो – *वह केवल बुद्धि के स्तर पर ही नहीं बल्कि आचरण के स्तर पर भी ज्ञान की संपन्नता प्राप्त कर चुके हैं, इस माने में विद्याचरण संपन्न हैं।*

सुगतो – *उनकी कायिक, वाचिक, मानसिक सभी गतियां शुद्ध हैं, कुशल हैं, इस माने में सुगत हैं।*

लोकविदु – *वह अनुभूति के स्तर पर सारे लोकों की यथावत जानकारी कर चुके हैं, इस माने में लोकविदु हैं।*

अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी – *जैसे बिगड़ैल घोड़ों को सारथी सुधार लेता है ऐसे ही बिगड़ैल लोगों को सुधार लेने में अनुपम कुशल सारथी हैं।*

सत्था देवमनुस्सानं – *जो देवताओं के और मनुष्यों के, राजा और प्रजा के शास्ता हैं, मार्गदर्शक हैं।*

बुद्धो भगवाति – *ऐसे हैं बुद्ध भगवान!*

ऐसे गुण जिस किसी व्यक्ति में हों, वह बुद्ध ही है। कोई बुद्ध है तो उसमें ऐसे गुण होंगे ही। बुद्ध कोई भी वन सकता है। जिसकी बोधि जागी और पूर्णतया परिपुष्ट हुई वही बुद्ध हुआ। यद्यपि इस अवस्था तक पहुँचने के लिए प्रभूत पराक्रम पुरुषार्थ करना होता है पर ऐसा पुरुषार्थ करके कोई भी सफल हो सकता है। कोई प्रादेशिक या सांप्रदायिक प्रतिबंध नहीं होता।

बुद्ध कोई व्यक्तिवाचक या जातिवाचक या संप्रदायवाचक शब्द नहीं है। बुद्ध के लिए और भी अनेक गुणवाचक विशेषण, संबोधन शब्द इस्तेमाल होते हैं। जैसे – भगवान, जिन, महावीर, सर्वज्ञ, तथागत, दशवल, क्षीणाश्रव, महाकारुणिक, वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीततृष्णा, धर्मराजा, सत्यदर्शी, निर्वाणदर्शी, सच्चनाम, धर्मकाय, धर्मभूत, ब्रह्मकाय, ब्रह्मभूत इत्यादि-इत्यादि। ऐसे सभी शब्द गुण, धर्म, स्वभाववाचक ही हैं। इसलिए सार्वजनीन हैं। कोई भी शब्द किसी भी संप्रदाय से नहीं वँधता।

ऐसा बुद्ध जव कुछ सिखाता है तो धर्म ही सिखाता है। शुद्ध सार्वजनीन धर्म। संप्रदायवाद से, जातिवाद से, कल्पनाजन्य दार्शनिकवाद से सर्वथा विमुक्त। सभी बुद्ध यही उपदेश देंगे : –

इति सीलं, इति समाधि, इति पञ्ञा,

– *यह शील है, यह समाधि है, यह प्रज्ञा है।*

सील परिभावतो समाधिमहप्फलो होति महानिसंसो।

– *शील परिभावित कर लेने से याने पूरी तरह अभ्यास में उतार लेने से समाधि महाफलदायिनी, महाकल्याणकारिणी होती है।*

समाधि परिभावतो पञ्ञामहप्फलो होति महानिसंसो।

– *समाधि परिभावित कर लेने से याने पूरी तरह अभ्यास में उतार लेने से प्रज्ञा महाफलदायिनी, महाकल्याणकारिणी होती है।*

पञ्ञापरिभावतो चित्त सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति।

– *प्रज्ञा परिभावित कर लेने से याने पूरी तरह अभ्यास में उतार लेने से चित्त आस्रवों से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है।*

याने शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करें जिससे कि विकारों से पूर्णतया विमुक्त हों। शील, समाधि, प्रज्ञा भी सार्वजनीन और इनके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली विमुक्ति भी सार्वजनीन। सांप्रदायिकता का कहीं नामोनिशान नहीं।

सभी बुद्ध यही सिखाते हैं। भगवान गौतम बुद्ध ने भी यही सिखाया। क्योंकि वह स्वयं इसे ही सीख कर बुद्ध बने।

सीलं समाधि पञ्ञा च विमुत्ति च अनुत्तरा।
अनुबुद्धा इमे धम्मा गौतमेन यसस्सिना॥

– शील, समाधि, प्रज्ञा और अनुत्तर विमुक्ति; इन्हीं धर्मों का यशस्वी गौतम ने अनुबोध किया। अतः इन्हीं शुद्ध, सनातन, सार्वजनीन धर्मों का उपदेश दिया।

गौतम बुद्ध के पूर्व भी जो बुद्ध हुए उन्होंने इन्हीं धर्मों की स्वयं बोधि प्राप्त की और इन्हीं की शिक्षा दी। इसी प्रकार उनके पश्चात भी जो बुद्ध होंगे वे भी यही बोधि प्राप्त करेंगे और यही शिक्षा देंगे।

कोई भी बुद्ध होगा तो इन सनातन सच्चाइयों को अनुभूतियों के स्तर पर जान लेगा कि छहों इंद्रियों के अपने-अपने विषय जब संबंधित इंद्रियों के संपर्क में आते हैं और उन्हें अनुकूल अथवा प्रतिकूल मान लिया जाता है तो सुखद या दुखद संवेदना होती है। सुखद हो तो उसके प्रति राग की याने उसे समेटे रखने की तृष्णा और दुखद हो तो उसके प्रति द्वेष की याने उसे दूर करने की तृष्णा जागती है। इस तृष्णा से ही अनेक अन्य प्रकार के विकार जागते हैं और हर तृष्णा का विकार दुःख ही पैदा करता है। यों तृष्णा का स्वभाव पुष्ट होते-होते भवदुःखचक्र गतिमान हो उठता है। शरीर और चित्त पर उत्पन्न होने वाली इन्हीं तृष्णाजन्य संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखने पर यह स्वभाव टूटने लगता है। भवचक्र के स्थान पर भवमुक्तिचक्र याने धर्मचक्र चलने लगता है। और यों अभ्यास करते-करते साधक सारे विकारों से विमुक्त हो जाता है। इसी के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास किया जाता है। यह सनातन नियम है। याने सनातन धर्म है।

संसार में कोई व्यक्ति बुद्ध बने या न बने, यह नियम कायम रहता ही है:

इमस्मिं सति इदं होति, इमस्मिं असति इदं न होति।

– इस कारण के होने से यह परिणाम होगा ही। इस कारण के नहीं होने से यह परिणाम नहीं होगा।

मानस पर तृष्णाजन्य विकार होंगे तो दुःख होगा ही। ये विकार न रहें तो दुःख अपने आप दूर हो जायगा।

कोई बुद्ध इन नियमों को बनाता नहीं। कोई बुद्ध इनमें परिवर्तन करता नहीं। कर भी नहीं सकता। बुद्ध हुआ माने प्रकृति के इन सनातन

नियमों को प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा जान गया और जान कर स्वयं विकार-विमुक्त हो गया। ऐसा व्यक्ति कोई भी हो, यही सिखायेगा कि शील, समाधि, प्रज्ञा द्वारा दु:खसमुदय के कारणों– राग-द्वेष आदि को नष्ट कर दो और दु:खविमुक्ति की अवस्था का साक्षात्कार कर लो।

इसके अतिरिक्त और वह क्या सिखायेगा भला? धर्म तो सनातन एक ही है जो कि सार्वजनीन है। कोई भी बुद्ध इसी धर्म को सिखाता है। वह किसी सांप्रदायिक या दार्शनिक उलझनों में लोगों को नहीं उलझाता।

बुद्ध हुआ तो भगवान हुआ याने राग-द्वेष और मोह को क्षय करके विमुक्त हुआ। ऐसा भगवान जो धर्म सिखाता है वह सार्वजनीन होता है और उसके यह सनातन गुण होते हैं।

स्वाक्खातो– *धर्म सुआख्यात होता है।* अच्छी प्रकार समझाया गया है। उसमें लालबुझक्कड़ों वाली कोई पहेली-बुझौवल नहीं होती। रहस्यवादिता की कोई उलझावन नहीं होती।

सन्दिट्ठिको– *धर्म सदा सांदृष्टिक होता है।* उसमें मिथ्या कल्पना को कोई स्थान नहीं होता। हर कदम सांदृष्टिक याने प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरने वाले सत्य के सहारे ही साधक आगे बढ़ता है।

अकालिको– यों सत्य के सहारे जितना-जितना आगे बढ़ता है उसे उतना-उतना *फल तत्काल मिलता है।*

एहिपस्सिको– ऐसा सार्वजनीन धर्म जो *लोगों को स्वयं सच्चाई देखने के लिए आह्वान करता है,* आमंत्रित करता है।

ओपनेय्यिको– *जो कदम-कदम पूर्णमुक्त अवस्था तक ले जाने वाला होता है।*

पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहि– *जिसे प्रत्येक समझदार आदमी को स्वयं अनुभव करना चाहिए।* केवल बुद्धि या श्रद्धा के स्तर पर मान लेने मात्र से बात नहीं बनती।

बस शुद्ध धर्म की यही सार्वजनीन व्याख्या है। धर्म शब्द के साथ कोई संप्रदायवाचक अथवा जातिवाचक अथवा दार्शनिक-मान्यतावाचक पुछल्ला नहीं लगता। यदि कोई विशेषण लगता भी है तो सार्वजनीन ही–

जैसे **एस धम्मो सनन्तनो**– *ऐसा है यह सनातन धर्म।*

अथवा

अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो– *आर्य धर्म याने ऐसा धर्म मार्ग जिस पर चल कर कोई भी व्यक्ति आर्य बन सके, निर्मलचित्त बन सके, संत बन सके।* और इस मार्ग के जो आठ अंग हैं वे भी सार्वजनीन ही हैं। कहीं

सांप्रदायिकता का नामोनिशान नहीं। वाणी शरीर और आजीविका के कर्म सम्यक हों, यही शील है। प्रयत्न, सजगता और समाधि सम्यक हो यही समाधि है। चिंतन और दर्शन सम्यक हो यही प्रज्ञा है।

सम्यक हो यानी सही हो। सत्य पर आधारित हो, प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित हो। इसमें सांप्रदायिकता की कोई बात नहीं। सार्वजनीन है, सभी आसानी से पालन कर सकते हैं। जाति, वर्ण, संप्रदाय अथवा देश काल की कहीं कोई दीवारें नहीं।

धर्म के मार्ग पर बिना कल्पना के, सत्य के सहारे-सहारे चलना होता है। इसीलिए इसे **सद्धर्म** कहते हैं।

धर्म के मार्ग पर जो-जो चले वही अपने मन के मैल उतार कर शुद्ध हो जाता है। इसलिए इसे **शुद्ध धर्म** कहते हैं, **विशुद्धि धर्म** कहते हैं। **विशुद्धि मार्ग** कहते हैं।

धर्म के मार्ग पर जो चले, वही राग, द्वेष आदि विकारों से विमुक्त हो जाता है। सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। अतः इसे **विमुक्ति धर्म** कहते हैं। **विमुक्ति मार्ग** कहते हैं। **दुःखनिरोधनी प्रतिपदा** कहते हैं।

धर्म के मार्ग पर जो चले वही आर्य बन जाता है याने दुर्जन से सज्जन संत बन जाता है। इसीलिए इसे **आर्य मार्ग** कहते हैं, **आर्य धर्म** कहते हैं।

धर्म के मार्ग पर जो चले, उसका चित्त स्वच्छ हो जाता है। कालिमा दूर हो जाती है। इसलिए इसे **शुक्ल धर्म** कहते हैं।

धर्म के मार्ग पर जो चले वही निर्वाण की अग्र अवस्था सहज प्राप्त कर लेता है। इस माने में इसे **अग्र धर्म** कहते हैं।

बस धर्म के लिए ऐसे ही विशेषण प्रयुक्त होते हैं और होने चाहिए। कोई संप्रदायवाचक, जातिवाचक विशेषण प्रयुक्त नहीं होते, न होने चाहिए।

इसी प्रकार राग-द्वेष भग्न कर भगवान बने बुद्ध की धर्मदेशना श्रवण कर जो लोग धर्म धारण करते हैं, धर्म में परिपुष्ट होते हैं, मुक्ति की पहली श्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं या उससे आगे की सगदागामी, अनागामी अथवा अंतिम अरहंत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं तो वह भगवान के श्रावक संघ कहलाते हैं। चाहे वह भिक्षु हों या भिक्षुणियां, गृहस्थ उपासक हों या उपासिकाएं। जो लोग इन चारों आर्य अवस्थाओं में-से पहली अवस्था को भी न पा सके हों, पर उसके लिए गंभीरतापूर्वक प्रयत्नशील हों, शील का पालन करते हुए समाधि को दृढ़ करते हों और विपश्यना द्वारा प्रज्ञा को पुष्ट करने में सचेष्ट हों, ऐसे **सुपटिपन्नो, उजुपटिपन्नो, ञायपटिपन्नो**

सामीचिपटिपन्नो याने *अच्छे ऋजु सत्य और सम्यक पथ के पथिक हों वे भी संघ कहलाने योग्य हैं।*

परंतु इन्हें छोड़ कर अन्य कोई संघ कहलाने योग्य नहीं। कोई बुद्ध होगा, भगवान होगा तो दु:शील, दुराचारी, अधर्मचारी, चंचलचित्त, दुष्प्रज्ञ व्यक्ति को अपना श्रावकसंघ कदापि नहीं स्वीकार करेगा।

याने संघ भी वही जो धर्मनिष्ट हो, अन्यथा नहीं। ऐसा व्यक्ति किसी जाति, गोत्र, वर्ण, संप्रदाय, या देश-प्रदेश का हो वह आर्य है, संत है। वह धर्मनिष्ठ है अत: पूज्य है, आदरणीय है, पुण्यवीज वोने के लिए उपजाऊ क्षेत्र है। वुद्ध और धर्म की भांति संघ के साथ भी जातिवाचक या संप्रदायवाचक शव्द नहीं जुड़ सकता, न ही जुड़ना चाहिए। केवल गुणवाचक शव्द ही जुड़ते हैं। जैसे - **आहुनेय्यो** [आह्वान करने योग्य] **पाहुनेय्यो** [पाहुना वनाने योग्य] **दक्खिणेय्यो** [दक्षिणा योग्य] **अञ्जलि करणीयो** [अंजलिवद्ध प्रणाम करने योग्य] **अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं** [सर्वश्रेष्ठ पुण्यक्षेत्र] **दन्तो सन्तो** [दान्त, शांत] **विरजो विमलो** [विरज-विमल] **निप्पपञ्चो** [निष्प्रपंच] आदि।

वुद्ध, धर्म और संघ तीनों जाति-संप्रदाय की सीमा से परे होते हैं तभी परिशुद्ध कहे जाते हैं, तभी अभिनंदनीय होते हैं। इनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव जगाने के लिए किसी संप्रदाय में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता धर्म में दीक्षित होने की है। लाभ उसी में है।

जातिवाद और संप्रदायवाद से दूर रह कर शुद्ध धर्म में परिपुष्ट हो कर आओ! हम अपना कल्याण मंगल साध लें।

धारण करे सो धर्म

धर्म क्या है? धारण करे सो धर्म। **'धारेती'ति धम्मो।'**

क्या धारण करे? अपने स्वभाव को धारण करे सो धर्म।

'अत्तनो सभावं धारेती'ति धम्मो।'

इसीलिए धर्म कहते हैं स्वभाव को, निसर्ग को, प्रकृति को, प्रकृति के नियम को, कुदरत के कानून को, विश्व के विधान को या ऋत को।

जव कहें अग्नि का धर्म है जलना और जलाना, तो अर्थ हुआ अग्नि का स्वभाव है जलना और जलाना। यह प्रकृति का एक नियम है।

जव कहें कि सभी वस्तुएं अनित्यधर्मा हैं। सारे पदार्थ जीर्णधर्मा हैं।

सारे प्राणी जराधर्मा हैं, मरणधर्मा हैं तो यही अर्थ हुआ कि यह उनका स्वभाव है। यह प्रकृति का एक नियम है।

इसमें हिंदूपने की या बौद्धपने की या जैन, सिक्ख, मुस्लिमपने आदि की क्या बात आयी भला ? यह न हिंदू धर्म है, न बौद्ध धर्म है, न मुस्लिम और न ईसाई धर्म है।

यह तो बस धर्म है। सार्वजनीन है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है।

इसी प्रकार जब किसी के मन में क्रोध जागता है, द्वेष-दुर्भाव जागता है तो वह दु:खी हो ही जाता है, व्याकुल हो ही जाता है – चाहे वह हिंदू हो, बौद्ध हो, जैन हो, मुस्लिम हो, सिक्ख हो या ईसाई हो। यह धर्म है, यह प्रकृति का नियम है। यह हो नहीं सकता कि कोई अपने मन में क्रोध जगाये और उसका मन प्रसन्नता से भर जाय। प्रकृति किसी का लिहाज नहीं करती, किसी का पक्षपात नहीं करती। ठीक इसी प्रकार जब किसी के मन में मैत्री जागती है, करुणा, मुदिता, सद्भावना जागती है, तो उसका मन सुख-शांति से भर ही जाता है। यह प्रकृति का अटूट नियम है। वह व्यक्ति अपने आपको हिंदू कहता है या बौद्ध, मुस्लिम या ईसाई; प्रकृति किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती।

जैसे हम आग और उससे उत्पन्न जलन को हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन आदि नहीं कह सकते, जैसे हम क्रोध और उससे उत्पन्न संताप को हिंदू, मुस्लिम, जैन इत्यादि नहीं कह सकते, जैसे हम सद्भाव को और उससे उत्पन्न शांति-सुख को हिंदू, मुस्लिम, जैन आदि नहीं कह सकते, वैसे ही हम कुदरत के कानून को याने धर्म को हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख, जैन आदि नहीं कह सकते। कहना भी नहीं चाहिए।

जब किसी व्यक्ति में क्रोध जागता है तो उस पर कहां लेबल लगाते हैं कि यह हिंदू क्रोध है, यह जैन क्रोध है, यह बौद्ध क्रोध है, आदि आदि...। क्रोध क्रोध है, जलायेगा ही। जो क्रोध जगायेगा वही जलेगा।

बर्फ का धर्म है माने स्वभाव है शीतल होना, शीतल करना। मैत्री, करुणा, सद्भावना का धर्म है याने स्वभाव है शीतल होना, शीतल करना। जैसे हम बर्फ को हिंदू, बौद्ध, मुस्लिम, सिक्ख, जैन आदि नहीं कह सकते, वैसे ही हम मैत्री, करुणा सद्भावना को हिंदू, बौद्ध, सिक्ख, जैन आदि नहीं कह सकते। वैसे ही हम धर्म को, कुदरत के कानून को, विश्व के विधान को, ऋत को; हिंदू, जैन, सिक्ख आदि नहीं कह सकते। धर्म को मात्र धर्म ही कहना समीचीन है, उपयुक्त है, ठीक है। इससे कोई भ्रांति पैदा नहीं होगी।

आदमी जब-जब अपना मन मैला करता है याने उसमें विकार जगाता है – क्रोध, द्वेष, दुर्भावना, ईर्ष्या, अहंकार, वासना, भय आदि-आदि तो

प्रकृति उसे दंड देती है। तत्काल दंड देती है। वह व्यक्ति तुरंत व्याकुल हो जाता है।

आदमी जव-जव अपना मन निर्मल करता है याने विकार-विमुक्त होता है तो स्वभाव से सद्गुणों से भर जाता है। जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता, समता, सद्भावना, निःस्वार्थ सेवाभाव आदि-आदि। तो प्रकृति उसे पुरस्कार देती है, तत्काल पुरस्कार देती है। वह व्यक्ति तुरंत सुख-शांति अनुभव करने लगता है।

ये प्रकृति के वँधे-वँधाए नियम हैं, ये कुदरत के कानून हैं और यही धर्म है। इसका संप्रदाय से कहीं दूर परे का भी संबंध नहीं है।

जो व्यक्ति कुदरत के इस कानून को अच्छी तरह जान लेता है, याने धर्म के स्वरूप को अच्छी तरह जान लेता है और अपना जीवन इस कानून के अनुकूल ढाल लेता है याने मन को मैला नहीं करता जिससे कि प्रकृति का दंड भोगना पड़े, वल्कि मन को निर्मल करता है जिससे कि प्रकृति का पुरस्कार मिलता रहे, ऐसा व्यक्ति धर्मचारी है, धर्मविहारी है, धर्मनिष्ठ है, धर्मी है, धार्मिक है। ऐसा व्यक्ति अपने आप को हिंदू कहे या बौद्ध या जैन या सिक्ख या मुस्लिम या ईसाई कहे अथवा अपने आप को इनमें से किसी भी सांप्रदायिक नाम से न पुकारे, वह व्यक्ति निश्चितरूप से धार्मिक व्यक्ति है। वह व्यक्ति अच्छा जीवन जीता है, अपना भी मंगल साधता है, औरों के मंगल में सहायक हो जाता है।

दूसरी ओर कोई व्यक्ति कुदरत के कानून को याने धर्म को नहीं समझता और ऐसे विकारभरे चित्त का जीवन जीता है कि जिसके कारण कदम-कदम पर उसे प्रकृति का दंड भोगना पड़ता है, वह कभी विकार-विहीन होना सीखता ही नहीं, अतः प्रकृति का पुरस्कार उसे कभी प्राप्त होता ही नहीं। ऐसा व्यक्ति अधर्मचारी है, अधर्मविहारी है, अधार्मिक है, अधर्मी है, पापी है, पापचारी है। चाहे वह अपने आप को हिंदू कहता फिरे या बौद्ध या जैन या सिक्ख या मुस्लिम या ईसाई। इन सांप्रदायिक नामों से वह व्यक्ति धार्मिक नहीं वन जाता।

कुदरत के कानून को धर्म कहते हैं। कुदरत का वह कानून जो सब पर लागू होता है। अणु-अणु पर जिसकी हुकूमत चलती है। सजीव और निर्जीव सव उस कानून के आधीन हैं। जो सर्वव्यापी है, घट-घट वासी है, सर्वशक्तिमान है, सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, सार्वभौमिक है। ऐसा सर्वव्यापी धर्म कभी संप्रदाय नहीं हो सकता। संप्रदाय की सीमा में नहीं वँध सकता। धर्म तो सार्वजनीन ही होता है, सार्वजनीन ही होगा।

धर्म हिंदू नहीं होता, मुस्लिम नहीं होता, बौद्ध, जैन, सिक्ख ईसाई, नहीं होता। धर्म बस धर्म होता है। हिंदू, मुस्लिम, जैन आदि धर्म नहीं, संप्रदाय होते हैं। भिन्न-भिन्न समूह। ऐसे समूह जो कि किसी एक तरह के पर्व-त्योहार मनाते हैं, जश्न-उत्सव मनाते हैं। एक प्रकार के व्रत-उपवास करते हैं, एक प्रकार के पूजा-पाठ करते हैं, कर्मकांड करते हैं, किन्हीं स्थानों की तीर्थयात्रा करते हैं अथवा कोई एक प्रकार की दार्शनिक मान्यता मानते हैं, जिसका लगभग एक तरह का रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और एक तरह की विचारधारा होती है।

किसी एक संप्रदाय की सारी शर्तें पूरी करने वाला व्यक्ति हो सकता है नितांत धर्मशून्य हो और यह भी हो सकता है कि वह धर्मवान हो। क्योंकि इन सांप्रदायिक बातों से धर्म का कोई लेन-देन नहीं है। धर्म तो अंतर्मन तक चित्त को शुद्ध करना सिखाता है। ताकि शरीर और वाणी से कोई ऐसा काम न करें जिससे अन्य प्राणियों को हानि हो, उन्हें पीड़ा पहुँचे, उनकी सुख-शांति भंग हो।

हिंदू धर्म हिंदुओं का है, बौद्ध धर्म बौद्धों का है, जैन धर्म जैनियों का है, सिक्ख धर्म सिक्खों का है, इस्लाम धर्म मुसलमानों का है, ईसाई धर्म ईसाइयों का है, पारसी धर्म पारसियों का है, यहूदी धर्म यहूदियों का है, पर धर्म तो सब का है। शील सदाचार का पालन करना सब का धर्म है। मन को वश में करना सब का धर्म है। मन को निर्मल करना सब का धर्म है और यही सही धर्म है।

कोई एक व्यक्ति किसी एक जातिविशेष में, वर्ण विशेष में जन्मा होने के कारण गर्व घमंड से भर उठता है, अपने आप को बहुत महान मानने लगता है। अन्य वर्णो में, अन्य जातियों में जन्मे हुए लोगों को तुच्छ मानता है, उनसे घृणा करता है, उन्हें अस्पृश्य घोषित करता है। तो समझ लेना चाहिए कि इस व्यक्ति में धर्म का नामोनिशान नहीं है। ऐसा व्यक्ति नितांत अधार्मिक है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी एक संप्रदाय का सदस्य होने के कारण गर्व-घमंड से भर उठता है, अपने आप को महान मानने लगता है, अन्य संप्रदाय के लोगों को तुच्छ मानता है, उनसे घृणा करता है तो समझ लेना चाहिए कि इस व्यक्ति में धर्म का नामोनिशान नहीं है। ऐसा व्यक्ति घोर अधार्मिक व्यक्ति है।

जो धर्म को समझता है वह इस बात को खूब समझता है कि किसी जाति, वर्ण, संप्रदाय अथवा देश-प्रदेश का होने मात्र से कोई आदमी ऊंचा

अथवा नीचा नहीं होता। धर्म के मापदंड से ऊंचा वही है जो शीलवान है, जो समाहित चित्त है, जो प्रज्ञावान है, निर्मलचित्त है। और नीचा वही है जो दु:शील है, दुष्प्रज्ञ है, समल चित्त है। और जो व्यक्ति नीचा है, दु:शील है, दुश्चित्त है, दुष्प्रज्ञ है, उसे पूरी सुविधा है, पूरी सहूलियत है, पूरा अधिकार है कि वह पुरुषार्थ करके इसी जीवन में सुशील बन जाय, समाहित चित्त बन जाय, सप्रज्ञ बन जाय, निर्मलचित्त बन जाय, सज्जन-संत बन जाय और इस प्रकार महान बन जाय। वह व्यक्ति चाहे जिस जाति, वर्ण, गोत्र का हो, चाहे जिस संप्रदाय का हो, चाहे जिस देश का हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। धर्म तो सब का है, सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है। इस पर किसी जाति, वर्ण व संप्रदाय के व्यक्तियों का एकाधिकार नहीं होता।

जाति-पांति के भेदभाव से धर्म की हानि होती है। अधर्म फैलता है। लोगों में दुर्भावना फैलती है। परस्पर वैर बढ़ता है। समाज की सुख-शांति नष्ट होती है।

संप्रदाय-संप्रदाय के भेदभाव से धर्म की हानि होती है, अधर्म फैलता है, लोगों में दुर्भावना बढ़ती है, परस्पर वैर बढ़ता है, समाज की सुख-शांति नष्ट होती है।

जाति-पांति का भेदभाव विभाजन करता है, दीवारें खड़ी करता है।
धर्म दीवारें तोड़ता है, एकता स्थापित करता है।
संप्रदाय वाड़े बांधता है, धर्म वाड़े तोड़ता है। भेदभाव मिटाता है।
जाति-पांति, संप्रदाय लोगों को तोड़ते हैं। धर्म लोगों को जोड़ता है।
जातिवाद और संप्रदायवाद धर्म के बड़े दुश्मन हैं। मनुष्य समाज के बड़े दुश्मन हैं।

जहां जातिवाद और संप्रदायवाद प्रमुख-प्रबल है वहां धर्म नहीं फैल सकता, लोगों में सही सुख-शांति नहीं फैल सकती।

धर्म तो सब का है। सभी समय, सभी जगह, सभी के लिए समानरूप से कल्याणकारी है।

जैसे सूरज सब का है। सब को एक जैसा प्रकाश, एक जैसी ऊष्मा देता है। जैसे हवा सब की है, नदी सब की है, बादल सब का है। कोई जाति-पांति या वर्ण या संप्रदाय का भेदभाव नहीं। वैसे ही धर्म सब का है। सब का हितैषी है। इसे कोई भी धारण कर सकता है और लाभान्वित हो सकता है। स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या शूद्र, हिंदू हो या मुसलमान, बौद्ध हो या जैन, सिक्ख हो या ईसाई, हिंदुस्तानी हो या पाकिस्तानी, ईरानी हो या यूनानी, चीनी हो या जापानी।

सभी शील सदाचार का पालन कर सकते हैं। सभी अपने सामान्य स्वाभाविक सांस को देखते-देखते मन को वश में कर सकते हैं। सभी अपने चित्त और शरीर की संवेदनाओं को देखते-देखते विकारों से विमुक्त हो सकते हैं। सभी दु:ख-विमुक्त हो कर एक जैसी सुख-शांति का अनुभव कर सकते हैं। चित्त को नितांत निर्मल करके, निर्विकार करके सदा के लिए सर्वथा विमुक्त हो सकते हैं। कोई भेदभाव नहीं।

कोई बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को समझ लेता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज में रहना है। अत: वह ऐसा कोई काम नहीं करे जिससे समाज की सुख-शांतिदायिनी व्यवस्था भंग हो। समाज की सुख-शांति भंग होती है तो स्वयं उसे सुख-शांति कहां मिलेगी। वह यह भी समझ लेता है कि जो काम दूसरे लोग उसके प्रति करें और वह उसे अच्छे न लगें तो ऐसे काम उसे भी दूसरों के प्रति नहीं करने चाहिए। क्योंकि उनको भी ऐसे काम अच्छे नहीं लगेंगे।

इन दोनों बातों को समझ कर वह शरीर और वाणी से कोई ऐसा काम नहीं करता जिससे अन्य प्राणियों की सुख-शांति भंग हो, अन्य प्राणियों का अहित, अमंगल हो, उन्हें पीड़ा पहुँचे। मसलन – वह शरीर से हत्या नहीं करता। चोरी नहीं करता। व्यभिचार नहीं करता। वह वाणी से झूठ नहीं बोलता; परनिंदा, चुगली, निकम्मी, निरर्थक बात नहीं करता। वह नशे-पते का सेवन नहीं करता। क्योंकि खूब समझता है कि नशे का गुलाम हो जायगा तो शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बचना उसके लिए कठिन हो जायगा। असंभव हो जायगा।

ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति जब कभी अंतर्मुखी हो कर धर्म का दर्शन करता है याने कुदरत के कानून को स्वानुभूतियों के स्तर पर जान लेता है तो उसके लिए यह सब कुछ बहुत स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी शारीरिक या वाचिक दुष्कर्म करने के पहले उसे अपने मन में कोई न कोई विकार जगाना पड़ता है और हर मनोविकार उसे बेचैन बना देता है। वह कुदरत के दंड का भागी हो जाता है।

अत: अब वह खूब समझने लगता है कि शारीरिक और वाचिक दुष्कर्म से विरत रह कर वह समाज के अन्य लोगों पर कोई अहसान नहीं कर रहा। वह तो दरअसल अपने आप पर एहसान कर रहा है। अपने आप को कुदरत के दंड से बचा रहा है।

ऐसा व्यक्ति अत्यंत निष्ठापूर्वक दुराचार से बचता है। शील-सदाचार का पालन करता है। ऐसा करने के लिए वह अपने मन को वश में करने

और मन को निर्मल करने का, उसे रागमुक्त, द्वेषमुक्त करने का उचित अभ्यास करता है।

ऐसा व्यक्ति अपना भला करता है, औरों के भले में सहायक हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपना मंगल साधता है, औरों के मंगल में सहायक हो जाता है।

ऐसा व्यक्ति संत है, सज्जन है। ऐसा व्यक्ति ही सही माने में धार्मिक है। ऐसा व्यक्ति हिंदू हो तो धार्मिक है। बौद्ध, ईसाई, जैन, मुस्लिम हो तो धार्मिक है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति किसी संप्रदाय के बाड़े में बांधा नहीं जा सकता। वह सांप्रदायिकता की जंजीरों से मुक्त रहता है।

कोई बुद्ध होता है, तो वह ऐसा ही धर्म सिखाता है।

साधको! ऐसे ही धार्मिक बनें और अपना कल्याण साध लें!

३. आंखों देखा विवरण

भगवान के जीवन काल की एक घटना।

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के पूर्वाराम विहार में ठहरे हुए थे। एक दिन विहार के बाहर खुले में बैठे थे। उस समय कोशल नरेश प्रसेनजित भगवान के दर्शनार्थ आया। भगवान को नमन कर वह एक ओर बैठ गया। थोड़ी-सी देर में भिन्न-भिन्न संप्रदायों की भिन्न-भिन्न वेशभूषाओं और बाह्य आडंवरों से परिपूर्ण पैंतीस साधु सामने सड़क पर से गुजरे। उन्हें देख कोशल नरेश आसन से उठा। उसने अपने उत्तरीय को एक कंधे पर रखा और दाहिने घुटने को जमीन पर रख उनकी ओर हाथ जोड़ कर तीन बार अपना परिचय दिया– ''मैं कोशलराज प्रसेनजित हूं।'' यह उन दिनों की एक अभिवादन प्रणाली थी।

उनके निकल जाने के वाद पुनः भगवान की ओर आमुख हो नमन कर बोला– ''भगवान, ये सव अरहंत हैं अथवा अरहंत-पथगामी हैं ?'' (वह भगवान की परीक्षा लेना चाहता था)

भगवान ने बोधि-वल से उन छद्म-वेशियों की वास्तविकता जानी और उसके इस कथन को अस्वीकार किया। वस्तुतः वे पैंतीस के पैंतीस राज्य के गुप्तचर थे जो नाना प्रकार से प्रजा तथा पड़ोसी राज्यों की गतिविधियों की जानकारी कर, अपने उच्च अधिकारियों तक पहुँचाते थे। उस समय भगवान ने कहा– ''सामान्य गृहस्थ ऐसे स्वांगधारियों को देख कर गलत निर्णय कर लेते हैं। किसी के सही धर्माचरण को जानना हो तो थोड़े नहीं, वल्कि वहुत दिनों तक उसके साथ रहना चाहिए। वुद्धिमानी और वहुत ध्यानपूर्वक उसके जीवन-व्यवहार को, आचरण को, चाल-चलन को परखना चाहिए। वहुत से लोग धर्म के नाम पर व्यवसाय करते हैं, आजीविका चलाते हैं और लोगों को ठगते हैं, जो कि सर्वथा अनुचित है। **धम्मेन न वणिं चरे।**''

एक अन्य अवसर पर भगवान ने कहा–

न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो॥

– *कोई व्यक्ति ईर्ष्यालु, मत्सरी, शठ हो, वह मात्र वाक्-चतुर होने से अथवा सुंदर रूपधारी होने से साधु रूप नहीं हो जाता। यानें वह वास्तविक साधु नहीं होता।*

समाज को ठगने वाले और गुमराह करने वाले ऐसे लोग होते ही रहते हैं जो बहुत चारुवाक [चार्वाक] होते हैं, और उनमें से किसी-किसी का व्यक्तित्व भी बहुत भव्य, मोहक और आकर्षक होता है। परंतु होते हैं वे बड़े शीलभ्रष्ट। ऐसे लोगों की पूरी जांच करके वास्तविकता का पता लगाना चाहिए। सही जांच तभी होती है जबकि उनके साथ लंबे समय तक रह कर उनकी प्रत्येक गतिविधि को बड़े ध्यान से बुद्धिमानीपूर्वक देखा जाय।

तत्कालीन समाज के अन्य लोगों में भी संन्यासियों को परखने की ऐसी समझदारी थी। एक उदाहरण – उन दिनों विदेह जनपद की राजधानी मिथिला में ब्रह्मायु नामक एक दीर्घायु ब्राह्मण रहता था जो कि तत्कालीन समस्त वैदिक शास्त्रों में पूर्ण पारंगत, प्रसिद्ध विद्वान और सुप्रतिष्ठित आचार्य था। उन्हीं दिनों भगवान बुद्ध पांच सौ भिक्षुओं के साथ विदेह जनपद की चारिका पर निकले थे। तब तक उनकी बहुत प्रशस्ति-प्रशंसा फैल चुकी थी। ब्रह्मायु ने भी भगवान के बारे में अनेक मंगल-कीर्ति शब्द सुने थे। परंतु वह बहुत अनुभवी व्यक्ति था। अतः समझता था कि किसी बात को केवल लोक-प्रसिद्धि के आधार पर स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। भली-भांति जांच-परख करके ही सच्चाई को स्वीकारना चाहिए। १२० वर्ष की बढ़ी हुई आयु में ऐसी जांच के लिए वह स्वयं यात्रा करने में असमर्थ था। अतः उसने अपने विश्वसनीय और मेधावी युवा शिष्य, उत्तरमाणवक को बुलाया जो कि अपने गुरु के समान ही शास्त्रीय ग्रंथों का परिपूर्ण विद्वान था। ब्रह्मायु ने उससे कहा – "जहां श्रमण गोतम इस समय चारिका कर रहा है वहां जाओ और स्वयं जांचो कि उसके बारे में जो कीर्ति-शब्द फैले हैं, क्या वह सच हैं या झूठ। मैं स्वयं यात्रा योग्य नहीं हूं। अतः तेरे माध्यम से श्रमण गोतम को जान सकूंगा।"

कोई भी व्यक्ति महापुरुष होने का दावा कर सकता है और किन्हीं कारणों से उसकी ऐसी प्रसिद्धि भी फैल सकती है। पर उसे भली भांति जांचना चाहिए। उन दिनों के वैदिक साहित्य में एक बहु प्रचलित ग्रंथ था जिसमें महापुरुष के बत्तीस शरीर लक्षणों की बड़ी स्पष्ट व्याख्या थी। ब्रह्मायु ने अन्य सभी ग्रंथों के साथ वह शास्त्र-ग्रंथ स्वयं भी पढ़ा था और उत्तरमाणवक को भी पढ़ाया था। अतः उसका हवाला देते हुए समझाया – "शास्त्रों के अनुसार ऐसे शरीर-चिह्नों वाला व्यक्ति गृही रहने पर चक्रवर्ती सम्राट होता

है और गृह त्यागने पर खुला-कपाट सम्यक संबुद्ध होता है। श्रमण गोतम महापुरुष है या नहीं, इसकी जांच शास्त्रोक्त आधार पर की जानी चाहिए। उसके शरीर-लक्षणों को तुम स्वयं देखो। अन्य अनेक प्रकार से भी पूरी-पूरी जांच करो।''

गुरु का आदेश पा कर उत्तरमाणवक वहां गया जहां भगवान विहार कर रहे थे। वहां पहुँच कर भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया और भगवान के शरीर को ध्यानपूर्वक देखने लगा। महापुरुष के तीस शरीर-लक्षण वह सरलतापूर्वक देख पाया। तब भगवान ने उसके मन की बात जान कर शेष दो भी दिखा दिये।

वह पूर्ण आश्वस्त हुआ कि श्रमण गोतम सभी शरीर-लक्षणों से युक्त महापुरुष है पर जांच पूरी करने के लिए उसने निर्णय किया कि मैं लंबे समय तक श्रमण-गोतम का अनुगमन करूंगा और उनका ईर्यापथ याने उनकी चाल-ढाल और रहन-सहन का भी निरीक्षण-परीक्षण करूंगा। अतः वह सात महीने तक भगवान के साथ रहा, जिनमें से छः महीने तो छाया की भांति पीछे ही लगा रहा। वह बड़े ध्यान से बुद्धिमानीपूर्वक उन्हें जांचता-परखता रहा। सात महीनों के बाद वह अपने गुरु के निवास की ओर लौट चला। वहां पहुँच कर उसने अपने गुरु ब्रह्मायु को बताया कि उसने स्वयं भली-भांति जांच-जांच कर देखा है। महापुरुष के जिन शरीर-लक्षणों का शास्त्रों में वर्णन है वे बत्तीस के बत्तीस श्रमण-गोतम के शरीर पर विद्यमान हैं। उसने एक-एक लक्षण गिन-गिन कर बताये। तदनंतर उसने उस महापुरुष के सौम्य रहन-सहन की जो आंखों देखी रपट दी वह भारत के भूले हुए इतिहास के वे गौरवमय पृष्ठ हैं जो पड़ोसी देशों ने सँभाल कर रखे हैं और जिनके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं।

उसने भगवान की अत्यंत अनुशासित चाल-ढाल का वर्णन करते हुए बताया कि जब वह चलते हैं तो सदा दाहिना पांव पहले उठाते हैं। न बहुत लंबा डग रखते हैं न बहुत ओछा। न बहुत तेज चलते हैं, न बहुत धीमे। न घुटने से घुटना रगड़ कर चलते हैं, न टखनी से टखनी। जांघ को न ऊंचा उठाते हैं, न हिलाते हैं, न डुलाते हैं, न घुमाते हैं। चलते समय शरीर के नीचे के भाग के बल पर ही आगे बढ़ते हैं, ऊपर के भाग का कोई बल प्रयोग नहीं होता। अतः उसमें कोई हलन-चलन नहीं होती। चीवर उनके शरीर से न बहुत ऊपर रहता है, न बहुत नीचे, न बहुत सटा रहता है, न बहुत छिटका, और न ही हवा में फड़फड़ा कर उड़ता है। उनके शरीर में धूल-कीचड़ नहीं लग पाते क्योंकि वह शरीर को अच्छी प्रकार ढक कर चलते हैं।

चलते समय नजर न ऊपर उठाते हैं, न नीचे गिराते हैं और न ही इधर-उधर घुमाते हैं। सामने की भूमि पर केवल दो कदम की दूरी तक नजर टिकी रहती है, बाकी सारा ज्ञान-दर्शन। चलते हुए अपने शरीर पर नजर न ले जाते हुए भी उसका अनुभव करते हुए, उसे जानते हुए चलते हैं।

गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए वह अपनी काया को न ऊंचा करते हैं न नीचा। न थोड़ा झुकते हैं न बहुत। अपने गौरव के अनुकूल शरीर की स्थिति रखते हैं। विछे आसन की ओर जाते हुए काया को आसन से न अति दूर पलटते हैं, न अति समीप। वह न हाथ का सहारा ले कर आसन पर बैठते हैं और न ही मानो असहाय शरीर को पटकते हुए धम्म से बैठ जाते हैं। न उनके हाथों में चंचलता प्रकट होती है, न पांवों में। न घुटने पर घुटना चढ़ा कर बैठते हैं, न टखने पर टखना और न ही ठुड्डी हाथ पर रख कर बैठते हैं। श्रमण-गोतम अत्यंत निश्चल, स्वस्थ, स्वस्थित होकर बैठते हैं। वह सर्वथा **अच्छम्भी, अकम्पी, अवेधी, अपरितस्सी, विवेकवत्तो, सो भवं गोतमो अन्तरघरे निसन्नो होति** – याने अभय, अकंपित, अविचलित, अपरित्रषित, अरोमांचित और विवेकयुक्त रह कर श्रमण गोतम बैठते हैं। उनके विराजने में सौम्य गंभीरता समायी रहती है।

भोजन ग्रहण करने के पूर्व वह अपने भिक्षा-पात्र को स्वयं धोते हैं। उस समय जल ग्रहण करते हुए पात्र को न बहुत नीचा करते हैं, न बहुत ऊंचा, न कम झुकाते हैं न अधिक। पात्र धोने के लिए जल न कम लेते हैं न अधिक। पात्र धोते हुए खलखल की आवाज नहीं करते और न पात्र को उलट कर धोते हैं। पात्र को भूमि पर फेंक कर अपना हाथ नहीं धोते। पात्र धोते हुए उनका हाथ धुल जाता है, हाथ धोते हुए उनका पात्र। पात्र व हाथ धोने के काम में आये हुए जल को वह न अति दूर फेंकते हैं, न अति समीप और न हिला-डुला कर, घुमा-फिरा कर फेंकते हैं। यानि उनकी सारी हरकतें अत्यंत अनुशासित होती हैं।

भोजन [भात] न अधिक ग्रहण करते हैं न कम। जैसे भोजन की निश्चित मात्रा जानते हैं वैसे ही व्यंजन याने तरकारी की भी। भोजन के ग्रास के साथ अधिक मात्रा में व्यंजन ग्रहण नहीं करते। भात चवा-चवा कर खाते हैं। पहला पूरी तरह निगल लेने के वाद ही दूसरा कौर मुँह में लेते हैं। भात का जूठन, मुँह से छूट कर, उनके शरीर पर कभी नहीं गिरता।

भोजन करते हुए वह उसके रस का अनुभव जरूर करते हैं, परंतु उस आस्वादन में राग की प्रतिक्रिया नहीं होती। उनका आहार मौज-शौक,

मद अथवा शरीर को सुंदर बनाने के लिए नहीं होता। काया की यथा-आवश्यक स्थिति बनाये रखने, जीवन-धारा चलाने और शुद्ध धर्माचरण का जीवन निभा सकने के लिए जितना आवश्यक है उतना ही आहार ग्रहण करते हैं जिससे भूख की पुरानी वेदना दूर हो और नयी नहीं जागे। श्रमण-गोतम का दैनिक आहार इन गुणों से परिपूरित होता है।

जैसे भोजनपूर्व, वैसे ही भोजनोपरांत वह उसी संयमित रूप से पात्र और हाथ धोते हैं। अपने भिक्षा-पात्र के प्रति न तो अन्यमनस्क होते हैं और न ही आसक्त होकर उसकी सुरक्षा के वारे में चिंतित रहते हैं। भोजन के बाद वे थोड़ी देर धर्मासन पर चुपचाप बैटते हैं। इतनी अधिक देर भी मौन नहीं बैठते जिससे कि भोजन दान के अनुमोदन के अनुकूल समय का अतिक्रमण हो जाय। वे भोजन का सदा अनुमोदन करते हैं, कभी निंदा नहीं करते। अनुमोदन प्रकट करते हुए यह आभास नहीं होने देते कि उन्हें इस प्रकार का भोजन-दान फिर चाहिए अथवा और चाहिए। अनुमोदन करके जब देशना देते हैं तो धर्मकथा द्वारा **सन्दस्सेति** याने सम्यक रूप से दर्शन करा देते हैं। धर्म का दर्शन माने भीतर सच्चाई देखना। बहुधा अपनी पूर्व पारमी के कारण कुछ लोग भगवान की वाणी सुनते-सुनते भीतर की सच्चाई स्वतः देखने लगते हैं याने अनुभव करने लगते हैं। इसी माने में **सन्दस्सेति**। **समादपेति** याने उत्साहित कर देते हैं। भीतर देखने वाले का धर्म के प्रति उत्साह स्वतः जाग उठता है। **समुत्तेजेति** – भली प्रकार धर्म के प्रति उत्तेजित कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति में धर्म-संवेग जाग ही उठता है। **सम्पहंसेति** – उसे प्रसन्न कर देते हैं। ऐसी कल्याणकारिणी देशना सुन कर श्रोता प्रसन्न हो ही उठता है।

तदुपरांत जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार नपे-तुले कदमों से विहार लौटते हैं। लौट कर विछे आसन पर बैठते हैं और पांव धोते हैं। यह धोना पांव की सुंदरता के लिए नहीं, मैल दूर करने के लिए होता है। फिर कुछ देर पालथी मार कर, काया सीधी रख कर, सजगता के साथ बैठते हैं। उस समय उनका चिंतन न आत्म-पीड़न के लिए होता है, न पर-पीड़न या उभय-पीड़न के लिए। उनका चिंतन सदा आत्महित, परहित, उभयहित और सर्वलोकहित होता है।

वे विहार में भिक्षु परिषद को उत्साहित करने के लिए, न कि निरुत्साहित करने के लिए धर्म देशना देते हैं। भिक्षु परिषद को भी वह उपरोक्त प्रकार से **सन्दस्सेति, समादपेति, समुत्तेजेति और सम्पहंसेति** – याने उत्साहित और आनन्दित करते हैं।

धर्मदेशना देते हुए उनके मुख से जो घोष होता है वह आठ अंगों से परिपूर्ण होता है। उनकी वाणी –

[१] **विसट्ठो** – याने विश्वसनीय और प्रामाणिक होती है।

[२] **विञ्ञेय्यो** – याने जानने योग्य होती है। सरलता से जानी समझी जा सकती है।

[३] **मञ्जू** – याने श्रवण-मधुर, कर्णप्रिय होती है।

[४] **सवनीयो** – याने श्रवण योग्य होती है। सुनने वाले के लिए कल्याण का कारण बनती है।

[५] **बिन्दु** – याने सारयुक्त होती है। उसमें कोई शब्द निस्सार नहीं होता।

[६] **अविसारी** – याने कटुताविहीन होती है क्योंकि करुणा से भरी होती है।

[७] **गम्भीरो** – याने गंभीर होती है। उसमें छिछलापन नहीं होता। और

[८] **निन्नादी** – कांसे के बर्तन पर लगी चोट की झंकार सदृश होती है, जो सुनने वाले की हृदतंत्री को झंकृत कर देती है।

श्रोता-परिषद जितनी बड़ी या छोटी होती है उसी के अनुरूप उनकी आवाज तेज या धीमी होती है। सारी परिषद उन्हें सुन पाती है और उससे आगे आवाज नहीं जाती। यों अपने स्वर पर उनका पूरा अधिकार रहता है। उनकी धर्मदेशना सुन कर लोग जब लौटते हैं तो बिना पीठ दिखाए याने बिना मुड़े उनके दर्शनीय चेहरे को देखते-देखते चले जाते हैं। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और उतनी ही प्रभावशाली वक्तृता को श्रोतागण भुलाए नहीं भूल पाते। वह चिर-स्मरणीय बनी रहती है।

तदनंतर ब्राह्मणकुमार उत्तरमाणवक ने अपने गुरु ब्रह्मायु से कहा – ''मैंने श्रमण गोतम को गमन करते देखा है, खड़े देखा है, गृहस्थ के घर में प्रवेश करते देखा है, भोजनोपरांत अनुमोदन करते देखा है, अपने विहार लौटते देखा है, विहार में भी चुपचाप बैठे देखा है और अपनी परिषद को धर्म उपदेश करते देखा है।''

इस प्रकार उसने उनकी सारी दिनचर्या एक बार नहीं बार-बार देखी। उसे सर्वथा निर्दोष ही नहीं बल्कि एक गृहत्यागी के लिए उच्च आदर्श स्वरूप पायी। यह सब देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। भगवान की गुणमयी दिनचर्या का यह सजीव विवरण प्रस्तुत करके भी वह संतुष्ट नहीं हुआ तो अंत में कहा –

एदिसो च, एदिसो च, सो भवं गोतमो।

आप गोतम ऐसे हैं, ऐसे हैं और इतना ही नहीं,

ततो च भिय्यो – याने *इससे भी कहीं अधिक हैं। कितना कहूं ?*

ध्यान देने योग्य वात है कि उत्तरमाणवक भगवान बुद्ध का भावुक भक्त या श्रद्धालु शिष्य नहीं था जो कि अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करता। वह तो ब्राह्मण गुरु ब्रह्मायु का पट्ट शिष्य था जो कि अपने गुरु के आदेश पर श्रमण गोतम को जांचने परखने और उसकी यथातथ्य रपट प्रस्तुत कर सकने के लिए गया था। भगवान को एक सरसरी निगाह से देख कर और उनके भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसने यह रपट नहीं दी। भगवान के शरीर पर बत्तीस के वत्तीस महापुरुष लक्षण उसने स्वयं ध्यान से देखे। छः महीनों तक उनके पीछे छाया की भांति लगा रहा। एक तथ्यदर्शी समालोचक की तरह उनके रहन-सहन, चाल-ढाल, खान-पान, लोक-व्यवहार, धर्मदेशना तथा वाणी को बड़े ध्यान से और बुद्धिमानीपूर्वक परख कर देखा। तत्पश्चात उसने यह आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया।

भगवान का जीवन कितना भद्र है! भव्य है! शिष्ट है! शालीन है! सुंदर है! संयत है! अनुशासित है! यह सुन कर ब्राह्मण ब्रह्मायु श्रद्धा विभोर हुआ और जिस दिशा में भगवान विहार कर रहे थे, उस ओर मुड़ कर पंचांग प्रणाम करता हुआ तीन बार बोला–

''**नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स**।''

शुद्ध सद्गुण और सदाचरण का ऐसा सजीव चित्रण सुन कर किसी भी समझदार की श्रद्धा जागनी स्वाभाविक है।

हम भी श्रद्धापूर्वक सदाचरण का जीवन जीएं। इसी में मंगल कल्याण है।

ब्रह्मायु धन्य हुआ

अपने शिष्य उत्तरमाणवक द्वारा भगवान बुद्ध की उत्तम चर्या का वर्णन सुन ब्रह्मायु के मन में जो श्रद्धा जागी उसके साथ-साथ ऐसी धर्म-कामना भी जागी– ''क्या कभी उन गोतम के साथ मेरी भेंट हो सकेगी ? क्या कभी उनसे वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा ?''

मानो भगवान ने उसकी मनोकामना जान ली और उसे पूरा करने के लिए वैदेही जनपद की क्रमशः चारिका करते हुए मिथिला आ पहुँचे। साथ पांच सौ भिक्षुओं का संघ था। मिथिला में भगवान भिक्षु संघ सहित मक्खादेव नामक आम्रवन में ठहरे। मिथिला नगर निवासियों को पता चला तो समूह के समूह भगवान से मिलने गये। अनेक ब्राह्मण भी गये। उनमें से कोई-कोई

भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। कोई-कोई चुपचाप ही एक ओर जा बैठे।

जब ब्रह्मायु ने सुना कि भगवान पधारे हैं तो वह भी अपने अनेक माणवों को साथ ले मक्खादेव आम्रवन की ओर चला। आम्रवन के समीप पहुँच कर उसने अपने एक शिष्य के द्वारा भगवान को यह सूचना भिजवाई – ''संपूर्ण वैदिक वाङ्मय का ज्ञाता १२० वर्षीय वयोवृद्ध ब्रह्मायु ब्राह्मण आया है। आप की कुशल मंगल पूछता है और आप से मिलने की आज्ञा चाहता है। मिथिला में जितने ब्राह्मण हैं, ब्रह्मायु उन सब में संसारिक सुख-भोग में भी अग्र है, वैदिक मंत्र ज्ञान में भी अग्र है, आयु में भी अग्र है और यश-कीर्ति में भी अग्र है।''

भगवान ने मिलने की अनुमति दी। ब्रह्मायु जहां भगवान थे वहां गया। भगवान के सामने जो ब्राह्मण परिषद बैठी थी उसने देखा कि प्रसिद्ध, यशस्वी, ब्राह्मणों में अग्र ब्रह्मायु भगवान से मिलने आया है। उन सब के मन में ब्रह्मायु के प्रति बहुत आदर भाव था। वह एकांत में भगवान से वार्तालाप कर सके इसका अवकाश देने के लिए पहले आये हुए ब्राह्मण उठने लगे। ब्रह्मायु ने उन्हें रोका, अपने-अपने स्थान पर बैठे रहने के लिए कहा और स्वयं भगवान से कुशल मंगल पूछ कर उनके समीप जा बैठा।

उसके शिष्य उत्तरमाणवक ने भगवान के शरीर के बत्तीस महापुरुष लक्षण बड़े ध्यान से देखे थे। फिर भी ब्रह्मायु के मन में आया कि बत्तीस लक्षण सामान्य लोगों के शरीर में नहीं होते हैं। किसी महापुरुष के शरीर में ही होते हैं जिनका संसार में आविर्भाव बहुत दुर्लभ होता है। ऐसे महापुरुषों का दर्शन अच्छा होता है। अतः वह एक-एक करके भगवान के शरीर के महापुरुष लक्षण देखने लगा। उन दिनों के वैदिक शास्त्रों में महापुरुष के बत्तीस शरीर-लक्षण इस प्रकार गिनाये गये थे :–

[१] **सुप्रतिष्ठित पाद** – याने पांव के तलवे समतल होते हैं। उनमें खड्डे नहीं होते जिससे पांव जमीन पर समतल रखे जाते हैं।

[२] **चक्र वरंकित** – पैरों के दोनों तलवों में चक्र अंकित होते हैं जो नाभि, नेमि तथा सहस्त्र आरों से सर्वाकार परिपूर्ण होते हैं।

[३] **आयत पार्ष्णि** – पांव की एड़ियां सामान्य जन के मुकाबले लंबी और चौड़ी होती हैं।

[४] **दीर्घ अंगुल** – हाथ और पांव की अंगुलियां लंबी होती हैं।

[५] **मृदु तरुण हस्त-पाद** – हाथ और पांव रूखे और कड़े नहीं होते। मृदुल और तरुण होते हैं।

[६] **जाल हस्त-पाद** – हाथ और पांव की अंगुलियों के वीच थोड़ी सी दूर में ऐसी जालनुमा त्वचा होती है जैसी कि हंस, वतख आदि के पंजों में होती हैं जिससे दो अँगुलियों के वीच कोई विवर नहीं रहता।

[७] **उस्संख पाद** – पांव के टखने सामान्य जन के मुकावले जरा ऊपर स्थित होते हैं।

[८] **एणी जंघ** – एणी मृग की सी जांघें होती हैं।

[९] **आजानुभुज** – खड़े होने पर विना झुके अपने दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों घुटने मसल पाते हैं, थपथपा पाते हैं।

[१०] **कोषाच्छादित वास्तिगुह्य** – पुरुषेंद्रिय त्वचा कोष में गुप्त, गुम्फित रहती है।

[११] **सुवर्ण वर्ण** – सारा शरीर कंचनवर्णीय होता है।

[१२] **सूक्ष्म छवि** – शरीर की चमड़ी पर एक सूक्ष्म त्वचा मढ़ी होती है जिस पर धूल आदि नहीं लिपट पाती।

[१३] **एकैक लोम** – प्रत्येक लोम कूप में एक-एक लोम होता है।

[१४] **ऊर्ध्वाग्र लोम** – सभी लोम नीले अंजन वर्णी होते हैं तथा बायें से दाहिनी ओर कुंडलित होकर उनके सिरे ऊपर की ओर स्थित होते हैं।

[१५] **व्राह्मऋजु गात्र** – शरीर लंवा और अकुटिल याने सीधा होता है।

[१६] **सप्त उत्सद** – दोनों हाथ, दोनों पांव, सामने और पीछे की धड़ और चेहरे सहित मस्तिष्क – शरीर के ये सातों अंग विशाल और पूर्ण आकार वाले होते हैं।

[१७] **सिंह-पूर्वार्द्ध-काय** – छाती सहित काया का ऊपरी भाग सिंह का-सा होता है।

[१८] **चितान्तरांस** – दोनों कन्धों के वीच का भाग भरा-पूरा होता है।

[१९] **न्यग्रोध परिमण्डल** – जैसे न्यग्रोध वृक्ष जितना ऊंचाई में बढ़ता है उतना ही चौड़ाई में फैलता है। वैसे ही खड़े होकर दोनों हाथ बाजू में फैला देने से जो व्याम याने चौड़ाई का माप होता है वही सिर से पांव तक का माप होता है।

[२०] **समवर्त स्कन्ध** – समान गोलाकार कन्धे।

[२१] **रसग्ग सग्गी** – अत्यंत कोमल वाल।

[२२] **सिंह हनु** – सिंह की सी चौड़ी ठोडी।

[२३] **चव्वालीस दन्त** – चालीस दांत।

[२४] **समदन्त** – दांत आगे पीछे न होकर समान पंक्तिवद्ध होते हैं।

[२५] **अविवर दन्त** – दांतों के बीच विवर याने छेद नहीं होते।

[२६] **सुशुक्ल दाढ** – खूब सफेद दाढ।

[२७] **प्रभूत जिव्ह** – वहुत लंबी जीभ।

[२८] **ब्रह्म स्वर** – करविंक पक्षी का-सा निन्नादी स्वर।

[२९] **अभिनील नेत्र** – अलसी के फूल जैसी नीली आंखें।

[३०] **गो पक्ष्म** – गाय की सी वरौनियां याने पलकों के बाल।

[३१] **श्वेत ऊर्णा** – दोनों भौहों के बीच कोमल, श्वेत, कपास की सी वर्तुलाकार रोमावली।

[३२] **उष्णीष शीर्ष** – सिर के ऊपर बीचों-बीच उठा हुआ एक उपशीष जो देखने में यों लगे जैसे सिर पर जटामुकुट या पगड़ी-सी बांध रखी हो।

शास्त्र-निष्णात, ब्राह्मण-प्रमुख व्रह्मायु ने एक-एक करके भगवान के तीस महापुरुष लक्षण जांचे परंतु दो को नहीं जांच सका – एक तो दीर्घ जिव्हा और दूसरी गुम्फित पुरुषेंद्रिय। उसके अनुरोध पर भगवान ने अपनी जीभ वाहर निकाली, जिसे ऊंची करने पर सारा नाक और ललाट ढक गया और वाजू की ओर ले जाने पर एक-एक करके दोनों कानों को छू लिया गया। तदनंतर भगवान ने उससे आश्वासन भरे शव्दों में कहा –

ये ते द्वत्तिंसाति, सुता महापुरिसलक्खणा।
सब्बे ते मम कायस्मिं, मा ते कङ्खाहु ब्राह्मण॥

हे व्राह्मण! जो तूने वत्तीस महापुरुष लक्षण सुने हैं, ये सब मेरे शरीर में हैं। तुम्हें इस वारे में कोई सन्देह नहीं हो।

शरीर के यह लक्षण पूर्वकृत पुण्यों के कारण प्रकट होते हैं। ऐसे लक्षणों से संपूर्ण व्यक्ति विरले ही होते हैं। परंतु आवश्यक नहीं कि ऐसे शरीर लक्षण से संपन्न व्यक्ति सम्यक संबुद्ध ही हो। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ रह कर चक्रवर्ती धर्म-सम्राट भी हो सकता है और सागर पर्यंत संपूर्ण पृथ्वी का ऐश्वर्य भोग सकता है। परंतु जिस व्यक्ति ने तीसों पारमिताएं पूरी की हैं वही गृहत्यागी, विवर्त कपाट सम्यक संबुद्ध वनता है।

कल्पों पूर्व तपस्वी ब्राह्मण सुमेध ने भगवान दीपंकर के चरण-मूल में सम्यक संवुद्ध बनने का अधिष्ठान लिया था। भगवान दीपंकर से आशीर्वाद पाकर वुद्धाङ्कुर याने वोधिसत्व वना था। तव से अनगिनत जन्मों में आत्महित और परहित के काम में लगा हुआ, तीस पुण्य पारमिताओं को परिपूर्ण कर चुकने पर इस जीवन में यह वत्तीस महापुरुष लक्षण वाला शरीर प्राप्त कर सका। इसे पाकर चक्रवर्ती सम्राट बनने की अपेक्षा सभी पारमिताओं की

परिपूर्णता के कारण बोधिवृक्ष के तले सम्यक संबोधि उपलब्ध कर भगवान गोतम सम्यक संबुद्ध बना। अतः इन शारीरिक लक्षणों से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण उनकी सम्यक संबोधि है जिससे कि वे सम्यक संबुद्ध बने। मानो इसी ओर इंगित करते हुए भगवान ने आगे कहा–

अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं, भावेतब्बं च भावितं।
पहातब्बं पहीनं मे, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मण॥

– याने जो अभिज्ञात करने योग्य आश्रव-क्षय परम मुक्त अवस्था है उसका मैंने अभिज्ञान कर लिया, उसे स्वयं अनुभूति पर उतार लिया। जो भावना करने योग्य है उस आर्य मार्ग को मैंने भावित कर लिया याने उसका अभ्यास पूरा कर लिया। जो प्रहाण करने याने त्यागने योग्य है वे राग-द्वेष मैंने पूर्णतया त्याग दिये, उनका प्रहाण कर लिया। इसी कारण मैं बुद्ध हूं।

तत्पश्चात भगवान ने कहा– "हे ब्राह्मण! इस जन्म के हित के लिए और भावी जन्म के सुख के लिए तुझे जो पूछना हो सो पूछ।" ब्रह्मायु ब्राह्मण ने भगवान से पूछा– "भो गोतम! कोई व्यक्ति ब्राह्मण, वेदगू, श्रोत्रिय, अरहंत, केवली, मुनि और बुद्ध कैसे होता है?"

इन शब्दों का अधिकतर व्यवहार जन्म-जाति के आधार पर अथवा कर्मकांडों के आधार पर अथवा वाह्याडंबर के आधार पर प्रचलित था। भगवान ने इन शब्दों की गुणवाचक और आध्यात्मिक उपलब्धिवाचक सही व्याख्या की, जिसे सुन कर विद्वान ब्राह्मण अत्यंत हर्षित हुआ और श्रद्धा-विभोर होकर अपने उत्तरीय वस्त्र को एक कंधे पर रख सम्मान प्रकट करने लगा। वह भगवान के चरणों में सिर रख उन्हें चूमने लगा, उन पर हाथ फेरने लगा और उन दिनों की सम्मान-प्रदर्शनीय प्रथा के अनुसार अपना नाम सुनाने लगा– "भो गोतम! मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूं, भो गोतम! मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूं।"

यह देख सुन कर वहां की उपस्थित परिषद अत्यंत विस्मित हुई, चकित हुई– "अहो! श्रमण गोतम की महाऋद्धि, महानुभावता बड़ी अद्भुत है, बड़ी आश्चर्यजनक है जो कि ब्रह्मायु जैसा जन-प्रसिद्ध यशस्वी ब्राह्मण उनके प्रति इस प्रकार परम नम्रता और आदर भाव प्रकट कर रहा है।"

तब भगवान ने ब्रह्मायु से कहा– "बस, ब्राह्मण! बहुत हुआ। मैं समझ रहा हूं कि तुम्हें मुझ पर बड़ी श्रद्धा है। अब उठो, अपने आसन पर बैठो।"

जब ब्राह्मण उठ कर आसन पर बैठ गया तो भगवान ने उसके

लिए आनुपूर्वी कथा कही याने उत्तरोत्तर गंभीर धर्म की क्रमशः व्याख्या की। जैसे दान का माहात्म्य, शील-सदाचार का माहात्म्य, स्वर्ग प्राप्त करने के उपाय, काम-वासनाओं के दुष्परिणाम, गृहस्थ जीवन की कठिनाइयां और निष्कामता का माहात्म्य।

सामान्य लोगों के सहज समझ में आ सकने वाली ये धर्म की साधारण वातें थी जिन्हें वे क्रमशः एक के बाद एक उपदेशते थे। इसके बाद श्रोता की मनोस्थिति अनुकूल होती तो आगे की अत्यंत गंभीर देशना देते थे।

भगवान ने देखा कि इतना उपदेश सुन कर इस समय ब्रह्मायु ब्राह्मण का चित्त अत्यंत भव्य है, मृदु है, नीवरण रहित है, आह्लादित है, श्रद्धालु है, प्रसन्न है। तव उसे आगे का वह गंभीर उपदेश दिया जो कि सभी बुद्धों का स्वानुभूति पर उतारा हुआ परम ज्ञान होता है। जैसे दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग।

नाम और रूप तथा मन सहित छहों इंद्रियों का सारा क्षेत्र अनित्य है। इसी कारण यह दुःख का क्षेत्र है। दुःख इसलिए कि अज्ञानवश इस अनित्य के प्रति मैं, मेरा और मेरी आत्मा का भाव पैदा कर लेने से इससे तादात्म्य स्थापित हो जाता है और परिणामतः इसके प्रति तृष्णा [राग-द्वेष] का सृजन होने लगता है। इसे दूर करने के लिए शील-समाधि-प्रज्ञा का आर्य-मार्ग भावित करना पड़ता है। इससे तृष्णा का क्षय हो जाता है और निरोध अवस्था याने नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है।

ब्रह्मायु ब्राह्मण पूर्व जन्म में अर्जित की हुई पुण्य पारमिताओं का धनी था। तभी तो भगवान बुद्ध और उनकी धर्म देशना के संपर्क में आ सका। इसलिए जैसे किसी मैले वस्त्र की अपेक्षा धुला हुआ स्वच्छ वस्त्र रंग जल्दी और साफ पकड़ लेता है, वैसे ही भगवान की यह देशना सुनते-सुनते, उसी आसन पर बैठे-बैठे उसके विरज, विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुए। उसने अपने भीतर उदय-व्यय की अनित्यता का अनुभव करते हुए उस कल्याणी अवस्था का साक्षात्कार किया जहां उसने देखा कि संपूर्ण नाम-रूप का क्षेत्र, संपूर्ण इंद्रियों का क्षेत्र जो सचमुच समुदय स्वभाव वाला है वह सब किस प्रकार निरुद्ध हो गया। उसके परे की नित्य, ध्रुव, अमृत अवस्था का साक्षात्कार हो गया। तभी स्वानुभूति के स्तर पर यह ज्ञान जागा –

यं किञ्चि समुदय धम्मं, सब्बं तं निरोध धम्मं'ति।

इस प्रकार ब्रह्मायु ब्राह्मण को अनुभूति द्वारा धर्म संदृष्ट हुआ, प्राप्त हुआ, विदित हुआ और परिणामतः प्रगाढ़ हुआ। बुद्धि द्वारा छिछले-छिछले

स्तर पर समझ में आने वाला न रह कर अब अनुभूति द्वारा सघन हो गया। अब ब्रह्मायु शंकाओं से पूर्णतया विमुक्त हो गया। मिथ्या ऊहापोह से विरत हो गया। वैशारद्य प्राप्त कर निर्भय हो गया। अनार्य से आर्य हो गया।

ब्रह्मायु ब्राह्मण गृही जीवन में रहते हुए ही मृत्यु के पूर्व अनागामी अवस्था को प्राप्त हुआ। ब्रह्मायु सचमुच धन्य हुआ! उसका मंगल सधा! कल्याण सधा!

आओ, साधको! हम भी अपना कल्याण साधें।

४. असीम करुणानिधान –

[१]

जव कोई व्यक्ति मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चारों ब्रह्मविहारों का अभ्यास कर पहले से चौथे ध्यान की साधना में परिपुष्ट हो जाता है तो उसके मन से द्वेष दूर होता है। राग दूर होता है तो ही मन से द्वेष दूर होता है। क्योंकि यदि राग रहेगा तो उसके परिणाम स्वरूप द्वेष जागेगा ही। अतः ऐसे व्यक्ति के राग और द्वेष दोनों दूर हो जाने के कारण वह यहीं इसी जीवन में ब्राह्मी जीवन जीने लगता है।

ऐसा व्यक्ति जब ध्यान-साधना में और आगे बढ़ता है याने पांचवे से आठवें ध्यान में परिपुष्ट हो जाता है तो उसका मन अधिक गहराइयों तक निर्मल हो जाता है। राग और द्वेष अधिक गहराइयों तक दूर हो जाते हैं। वह वीतराग और वीतद्वेष हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसका ब्राह्मी स्वभाव भी परिपुष्ट हो जाता है। उसकी मैत्री और करुणा अधिक बलवान हो जाती है।

परंतु आठ ध्यानों की समापत्तियों से संपन्न व्यक्ति भवाग्र अरूप ब्रह्मलोक का अधिकारी हो जाने पर भी, वीतराग और वीतद्वेष हो जाने पर भी, वीतमोह नहीं हो पाता। हो सकता है किसी परंपरागत दार्शनिक मान्यता के प्रति उसका अभिनिवेश वना रहने के कारण, जो सर्वथा असत्य है उसे सत्य मान कर वह अविद्या में पड़ा हो। यदि ऐसा है तो उसके सारे संस्कार अभी नहीं कटे। अंतर्मन की तलस्पर्शी गहराईयों में अंतःशायी सुषुप्त संस्कार दवे पड़े ही हैं। ऐसी अवस्था में उसकी वीतरागता और वीतद्वेषता स्थाई नहीं होती। परंतु जो इन आठ ध्यानों से आगे वढ़ कर इन अतःशायी संस्कारों का सर्वथा उत्खनन कर, इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है, उसकी अविद्या सर्वथा दूर हो जाती है। वह सभी दार्शनिक मान्यताओं के बंधनों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। क्योंकि स्थूल से सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हुए, इंद्रिय जगत की संपूर्ण सच्चाइयों का अनुभव करते हुए वह इंद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। अतः उसके लिए कोई मान्यता मान्यता

नहीं रहती। वह जान्यता की सच्चाई का जीवन जीता है, जहां कल्पनाजन्य मान्यता के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। ऐसा व्यक्ति वीतराग और वीतद्वेष ही नहीं, वीतमोह भी हो जाता है। उसकी भवनेत्री कट जाती है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। ऐसी अवस्था को पहुँचा हुआ व्यक्ति असीम करुणा से भर उठता है। उसका सारा शेष जीवन करुणा से सतत ओतप्रोत रहता है। ऐसा व्यक्ति अरहंत होता है, सम्यक संबुद्ध होता है। शाक्यमुनि ऐसे ही अरहंत थे, सम्यक संबुद्ध थे। पैंतीस वर्ष की अवस्था पूरी होने पर उन्होंने अरहत्व प्राप्त किया, सम्यक संबोधि प्राप्त की, तदनंतर उनके जीवन के शेष बचे पैंतालीस वर्ष का एक-एक दिन, एक-एक मुहूर्त, एक-एक पल महाकरुणा से अभिसिंचित रहा। मानो करुणा बुद्ध के रूप में मूर्तिमंत हो उठी, जीवंत हो उठी, प्राणवंत हो उठी। मानो भगवान बुद्ध के रूप में करुणा का व्यक्तिकरण हुआ। भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व में करुणा रच-पच गयी।

जैसे एक-एक व्यक्ति के प्रति उनकी करुणा उमड़ी, वैसे ही पीड़ित प्राणियों के समूह के प्रति भी। व्यक्ति-व्यक्ति को दुःख के बाहर निकालने के लिए उन्होंने शुद्ध धर्म की साधना सिखायी जो कि सार्वजनीन और सार्वकालिक होने के साथ-साथ सांप्रदायिकता के बाड़े-बंधन से दूर थी, नैसर्गिक नियमों पर आधारित थी; अतः वैज्ञानिक थी और आशुफलदायिनी थी। परंतु उस समय समाज में अनेक प्राणियों के समूह पर भीषण अत्याचार हो रहा था और वह भी धर्म के नाम पर। इसे देख कर उनका हृदय पिघला और इन दूषणों को दूर करने के लिए उन्होंने आजीवन अथक परिश्रम किया।

रक्त-रंजित यज्ञ

समाज के दुर्भाग्य से उन दिनों यज्ञों में पशु-बलि का विधान बड़ा प्रबल हो उठा था। कभी गृहस्थ को अधिक परिग्रह से रोकने के लिए यज्ञ हुआ करते थे। राजाओं के राज्य-कोष में और धनियों के कोष्ठागार में जब अत्याधिक अन्न-धन एकत्र हो जाता था तो अभावग्रस्त लोगों में उसके सम-विभाग किये जाने के लिए यज्ञ एक माध्यम होता था, बहाना होता था। परंतु स्वार्थी पंडे-पुजारियों की नासमझी के कारण बिगड़ते-बिगड़ते वह एक थोथा कर्मकांड मात्र ही बना रह गया। इतना ही नहीं बल्कि निरीह पशुओं की हत्या के लिए एक बृहत-कत्लखाना भी हो गया।

उन दिनों के सुरक्षित साहित्य में हम देखते हैं कि राजाओं-महाराजाओं अथवा गृहस्थों द्वारा आयोजित एक-एक विशाल यज्ञ में सैकड़ों की तादाद

में मूक निरपराध बैल-गायें, बछड़े-बछड़ियां, भेड़-बकरियां और मुर्गे-मुर्गियां आदि कत्ल किये जाते थे। धर्म का पावन स्थल किस प्रकार बूचड़खाने का-सा दृश्य उपस्थित करता होगा, उसकी कल्पना मात्र से हृदय कांप उठता है। एक साथ इतने प्राणियों की हत्या करना सरल नहीं होता। आखिर यजमान और पुरोहित कर्मकांड की पूर्ति के लिए प्रतीक स्वरूप एक-एक पशु की हत्या कर लेते होंगे, बाकी इतने पशुओं की एक साथ हत्या करना अपने आप में एक कठिन काम होता होगा। गांव-नगर में कसाई भी कितने मिल जाते होंगे? अतः संभावना इसी बात की है कि यजमान राजा के अथवा धनी गृहस्थ के नौकर-चाकरों से, क्रीत-दासों से यह जघन्य कार्य जबरन कराया जाता होगा। तभी हम ऐसे वर्णन पढ़ते हैं कि नौकर-चाकर अश्रुमुख होकर यज्ञ में काम कर रहे हैं। जो कसाई नहीं है वह कसाई का जघन्य काम प्रसन्नचित्त से कैसे कर सकेगा?

सचमुच यज्ञ की परंपरा में पशु-बलि की यह प्रथा एक कलंक बन गयी थी। इन निरीह निरपराध पशुओं के प्रति तो भगवान की करुणा जागी ही, उनकी करुणा जागी उन गुमराह हुए यजमानों के प्रति भी और उन नासमझ पुरोहितों के प्रति भी। उन्होंने यजमानों और पुरोहितों दोनों वर्ग के लोगों को करुणचित्त से धर्म सिखाया। यजमानों को समझाया कि पूर्वकाल में सोलह प्रकार से परिष्कृत यज्ञ होते थे, जिनमें जीवहत्या का नामोनिशान नहीं होता था। धीरे-धीरे यज्ञ करवाने वाले यजमानों को शुद्ध यज्ञ की महत्ता समझ में आने लगी और वे इस दूषित कर्मकांड से मुँह मोड़ने लगे। भगवान के जीवनकाल में इस प्रकार की अनेक घटनाएं हमारे सामने आती हैं जैसे कि कुटदंत ब्राह्मण गृहस्थ की यज्ञ-कथा।

कुटदंत ब्राह्मण को मगधनरेश बिंबिसार ने खाणुमत नामक ब्राह्मण-ग्राम दान में दे रखा था। यह घनी आबादी वाला उपजाऊ ग्राम था। कुटदंत ब्राह्मण को इस ग्राम से प्रचुर आमदनी होती थी, इस कारण वह उन दिनों का एक धनाढ्य ब्राह्मण गृहस्थ था। एक बार उसने एक महान यज्ञ का आयोजन किया। इस निमित्त बलि के लिए सैकड़ों गाय, बैल, बछड़े-बछड़ियां, भेड़-बकरियां यज्ञ-स्तंभ के पास एकत्र कर लीं गयीं।

संयोग से उसी समय भगवान बुद्ध चारिका करते हुए खाणुमत ब्राह्मण-ग्राम पहुँचे। तब तक उनकी प्रसिद्धि गंगा-जमुनी दोआबे के सभी राज्यों में, राज्यों के जनपदों में, जनपदों के नगर-नगर में, ग्राम-ग्राम में खूब फैल चुकी थी। लोग उनके दर्शनों के लिए लालायित रहते थे। क्योंकि आम लोगों को इस बात का विश्वास हो गया था कि वे शुद्ध-बुद्ध महापुरुष हैं

और ऐसे महापुरुषों के दर्शन कल्याणकारी होते हैं। अतः वे जहां जाते, समूह के समूह लोग उनसे मिलने चले आते। खाणुमत ब्राह्मण-ग्राम में भी यही हुआ। उनसे मिलने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। खाणुमत ब्राह्मण-ग्राम का स्वामी कुटदंत भी वहां जा पहुँचा।

क्योंकि कुटदंत के यहां महान यज्ञ का प्रसंग था, अतः उसने भगवान से यज्ञ के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाही। उसने यह सुन रखा था कि भगवान पूर्वकाल में होने वाले शुद्ध यज्ञों की व्याख्या करते हैं। अतः उसने भगवान से इस बारे में जानना चाहा। भगवान ने अत्यंत करुणचित्त से प्राचीन युग के यज्ञों के बारे में बताया, जिसमें यज्ञ, यज्ञमान और याज्ञिक की शुद्धता का विवरण था। ऐसे यज्ञों में पशु-बलि जैसा कुकृत्य नहीं हुआ करता था। यह सुन कर कुटदंत ब्राह्मण अत्यंत प्रभावित हुआ। उसने निरीह पशुओं को अभयदान दे कर उन्हें बंधन से मुक्त किया और बोला– ''ये हरी-हरी घासें चरें, ठंडा-ठंडा पानी पियें, ठंडी-ठंडी बहती हवाओं में उन्मुक्त विचरें।''

भगवान की कल्याणी वाणी सुन कर हिंसक यज्ञ करवाने वाला ब्राह्मण कुटदंत जैसे बदला, वैसे ही अनेक यजमान बदले। और इसी प्रकार ब्राह्मण पुरोहित भी बदले। ब्राह्मणों के पुरोहित वर्ग से भगवान का कोई वैर तो था नहीं। उनके मन में इनके प्रति भी अपार करुणा ही थी, जिससे कि ये इस गिरी हुई हालत से ऊपर उठें। अतः जहां जब अवसर मिला, उन्होंने बड़े प्यार से उन्हें समझाया कि पूर्वकाल के ब्राह्मण कितने शील-सदाचारी थे, त्यागी और अपरिग्रही थे, ध्यानी और तपस्वी थे; पर किस प्रकार उनका नैतिक पतन होने लगा और वे हिंसक यज्ञों के जन्मदाता बन गये तथा इन जघन्य कर्मों में उलझ कर अपनी और अपने यजमानों की हानि करने लगे। भगवान ने समझाया कि पुरातनकाल के सदाचारी ब्राह्मण धार्मिक रीति से चावल, घी, तैल, शयन, वस्त्र आदि ला कर यज्ञ-संपादन करते थे। उन यज्ञों में किसी प्राणी का वध नहीं करते थे।

और फिर गायों की महत्ता बताते हुए भगवान समझाते थे– माता-पिता, भाई-बंधुओं की भांति गायें हमारी परम मित्र हैं। उनके बछड़े हमारे खेतों में हल चलाते हैं, उनके गोबर से खेतों में अन्नदायिनी, औषधिदायिनी वनस्पतियां पैदा होती हैं। गायें हमारे लिए अन्नदायिनी हैं, बलदायिनी हैं, तेजस्वितादायिनी हैं और सुखदायिनी हैं। इन बातों को समझते हुए उन दिनों के ब्राह्मण गायों की हत्या नहीं करते-करवाते थे। गायें भेड़ों की तरह निरीह होती हैं। वे अपने पावों अथवा सींगों से किसी की हत्या नहीं करतीं। वे हमें घड़ा भर-भर दूध देती हैं।

भगवान ने वताया कि उन सदाचारी ब्राह्मणों का जव अधःपतन होना शुरू हुआ तो वे अपरिग्रही नहीं रहे। भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ करवा कर यजमान राजा से भिन्न-भिन्न प्रकार की सामग्रियां दान में प्राप्त कर परिग्रही होते चले गये। शनैः शनैः उनका लोभ वढ़ता गया, उनकी तृष्णा बढ़ती गयी। वे नए-नए मंत्र रच कर, राजा को उनका माहात्म्य वता-वता कर, नए-नए यज्ञ करवाने लगे और प्रभूत धन-संपदा अर्जित करने लगे।

आगे जा कर उनका घोर अधःपतन हुआ, जबकि उन्होंने गायों को भी एक भोग्य वस्तु मान कर राजा से 'गो-मेध यज्ञ' करवाने शुरू किये। इसके कारण अनेक शत-शहस्त्र गौओं का बध हुआ।

जब पहले-पहल गो-हत्या हुई तो देव-पितर और इंद्र ही नहीं, बल्कि असुर और राक्षस भी यह देख कर दुःखी हुए और चिल्ला उठे, "हाय! अधर्म हुआ, जो गायों पर शस्त्र पड़ा।"

(सुत्तनिपात, ३११-३१२, ब्राह्मणधम्मिकसुत्तं)

भगवान ने लोगों को समझाया कि पुरातन काल में इच्छा, भूख और जरा – यही तीन रोग थे। परंतु पशु-बलि शुरू होने पर जनता में अट्ठानवे प्रकार के रोग आरंभ हो गये। यों धर्म के नाम पर जो अधर्म चल पड़ा, उससे लोगों का वड़ा अमंगल हुआ।

उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचे हुए शील-सदाचारी ब्राह्मणों के ऐसे घोर अधःपतन का वर्णन सुन कर अनेक समझदार पुरोहित हिंसक यज्ञों से अपना हाथ खींचने लगे। भगवान की असीम करुणा का फल प्रत्यक्ष आने लगा। उनके जीवन काल में ही हत्यारे यज्ञ कम होने लगे और आगे चल कर विल्कुल बंद हो गये। सदियों से हिंसक यज्ञ सर्वथा बंद हो जाने के कारण आज तो हमें विश्वास भी नहीं होता कि हमारे पुरखे कभी धर्म के नाम पर ऐसे अधर्म में रत रहते थे।

भगवान की शिक्षा के कारण ही देश में गऊ माता की तरह पूजी गयी। इसी के परिणाम-स्वरूप मांसाहारी पड़ोसी व्रह्मदेश में गोमांस को 'अमेदा' याने 'माता का मांस' कह कर उसका वहिष्कार किया जाता है।

भगवान की करुणा इस दिशा में पूर्णतया सफल हुई। समाज का अपार मंगल हुआ।

असीम करुणानिधान –

[२]

सन १९४७. देश के बँटवारे के दर्दनाक और शर्मनाक दिन। बँटे हुए दोनों भागों में वेरहम मानवी नरसंहार। एक भाग के वेशुमार लोगों का दूसरे भाग की ओर वेतहाशा पलायन। पुरखों की जिस धरती पर सदियों से रहते आये थे, उसे असुरक्षित पा कर भयसंकुल पलायन। अपना सब कुछ छोड़-छाड़ कर जान वचाने के लिए अधीर पलायन। परंतु इस पलायन में भी जान का खतरा था, सुरक्षा का सर्वथा अभाव था।

विहार के एक बूढ़े मुसलमान ने इस महापलायन के दौरान घर-बार छोड़ कर भाग निकलने का निर्णय किया। पड़ोस के एक सज्जन ब्राह्मण ने उसे वचाये रखने का वहुत आश्वासन दिया, पर वह अत्यंत भयभीत था, भागने पर ही तुला था। पश्चिमी पंजाब की सीमा तक का रास्ता वहुत लंवा था, खतरों से भरा था। दयालु पड़ोसी को एक युक्ति सूझी। उसने मित्र के दाढ़ी, मूंछ और सिर का मुंडन किया, पीछे एक छोटी-सी चोटी रखी, माथे पर तिलक लगाया, कंधे पर जनेऊ पहनाई, गले में तुलसी की माला डाली, पीठ पर राम-नामी दुपट्टा ओढ़ाया और उसे "हरे राम, हरे राम" का पाठ सिखा कर किसी दूर की स्टेशन पर पश्चिम की ओर जाने वाली गाड़ी में वैठा कर भारी मन से विदा किया।

आधी यात्रा पूरी होते-होते एक स्टेशन पर कुछ लोग हाथ में लाठी, भाला, छुरी, चाकू लिए हुए उस डिब्वे में चढ़ आये। भागने वालों की खोज थी उन्हें। बूढ़ा सहमी हुई भयभीत आंखों से उनकी ओर टुकुर-टुकुर देख रहा था। उसका कलेजा धक-धक कर रहा था। उन्हें बूढ़े पर संदेह हुआ।

उनमें से एक ने पूछा– कौन हो तुम ?

बूढ़े ने हकलाते हुए उत्तर दिया– हिंदू।

– "क्या जात है तुम्हारी ?"

बूढ़ा घबरा उठा। घिघियाकर बोला– विरहमिन।

– "कौन विरहमिन ?"

बूढ़ा और घबराया। फिर पड़ोसी की जात याद आयी, तो लड़खड़ाती जबान से बोला– गौड़ विरहमिन।

– "कौन गौड़ ?"

अब क्या जवाव दे। वेचारे को पता नहीं कि गौड़ भी अनेक होते हैं। तो घवराहट के मारे मुँह से निकल गया "या अल्लाह! गौड़ में भी झोड़"।

इस खौफनाक माहौल की इस दर्दनाक लेकिन हास्योत्पादक घटना को आगे न बढ़ाते हुए हम इस घटना-सूत्र से इस तथ्य को समझें कि हमारे देश का एक बहुसंख्यक समाज किस प्रकार वर्ण और जाति के

भेद-प्रभेदों में वँटा हुआ है। किसी ने कितना ठीक कहा –

ज्यों कवियों की बात में, बात बात में बात।
ज्यों केले के पात में, पात पात में पात।
ज्यों गदहे की लात में, लात लात में लात।
त्यों हिंदुओं की जात में, जात जात में जात॥

तथ्यों की गहराई में जायें तो यह स्पष्ट समझ में आयेगा कि हमारे यहां का यह जात-पांत और ऊंच-नीच का भेदभाव भरा खतरनाक सामाजिक विभाजन ही था, जिसने समय पाकर देश के इस दर्दनाक वँटवारे का रूप धारण किया और भविष्य के लिए भी यही खतरा लिए हुए है।

जात-पांत का कैसा उलझन भरा जाल। ऊंच-नीच का कैसा उत्पीड़न भरा जंजाल। समाज के सारे लोग परस्पर समान नहीं। जन्म के आधार पर चार वर्णों में वँटे हुए। जरा सोच कर देखें हमने अपनी क्या बुरी हालत वना ली। एक ऊंचा तो दूसरा नीचा। किसी एक वर्ण के लोग भी परस्पर समान नहीं। जाति-जाति में वँटे हुए। कोई ऊंचा तो कोई नीचा। एक जाति के लोग भी परस्पर समान नहीं। उपजातियों में वँटे हुए। कोई ऊंचा तो कोई नीचा। अजीव गुंथन है, जटिल उलझन है। शायद यह सारा मायाजाल इसीलिए गूथा गया कि हर नीची जात का व्यक्ति ऊपर की ऊंची जात वालों के अनीतिपूर्ण शोषण का बोझ ढोते हुए भी इस भ्रामक संतोष में जीता रहे कि मैं अमुक-अमुक जात वालों से ऊंचा हूं और इस अहं भरे मिथ्या संतोष के मारे इस विषैली व्यवस्था के विरोध में कभी सिर न उठाये, कभी विद्रोह न करे। पर उनका क्या, जो सवसे नीचे हैं, अंत्यज हैं, अछूत हैं, अस्पृश्य हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी घिनौने कामों में लगाये गये हैं, सदियों से किस कदर कुचले गये हैं, वर्ण-विभाग और जात-पांत के ऊंच-नीच की अत्याचारिणी दुर्व्यवस्था में पिसते चले आ रहे हैं। समाज के तथाकथित कर्णधारों को उनकी कोई चिंता नहीं। उस ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता। वह अपने उच्च वर्ण के गर्व-गुमान में ही अंधेपन का जीवन जीते हैं और उन दुखियारों को अपने भाग्य का रोना रोने के लिए छोड़ देते हैं। अन्याय अनीति पर आधारित इस सामाजिक दुर्व्यवस्था का दुष्परिणाम प्रत्यक्षरूप से तो उन दुर्दमित पीड़ितों को भुगतना पड़ता है परंतु निष्पक्ष वुद्धि से चिंतन-मनन करके देखेंगे तो पायेंगे कि परोक्षरूप में हमारे सारे समाज को और राष्ट्र को भुगतना पड़ता है।

आज से छब्वीस सौ वर्ष पूर्व के भारत की भी यही दशा थी। सारा समाज इस घातक चातुर्वर्णी व्यवस्था का शिकार था। जहां वर्ण-विभाजन है, वहां जात-पांत का भेद-भाव स्वतः उपजेगा ही। विनाशकारिणी जात-पांत,

ऊंच-नीच का वीभत्स भेद-भाव और मानवी गरिमा में कलंक-स्वरूप छूआछूत सारे समाज पर छायी हुई थी। समाज की इस दुरावस्था को देख कर उस महाकारुणिक का हृदय पिघल उठा। रोम-रोम से करुणा का उत्स फूट पड़ा। कर्म-सिद्धांतों पर स्थापित भारत का पुरातन, सनातन, शुद्ध धर्म जातिवाद के चंगुल में फँस कर कितनी गिरी हुई अधार्मिक अवस्था तक जा पहुँचा। उन्होंने इसे सुधारने का प्रयत्न शुरू किया। जन्म के आधार को ले कर विगड़ती चली गयी इस भयावह व्यवस्था को पुनः कर्म पर आधारित करने का उन्होंने भागीरथ सत्प्रयास शुरू किया। जन्म के मुकावले कर्म की महत्ता को उजागर किया।

एक ओर उन्होंने इस विनाशकारी व्यवस्था द्वारा कुचले गये दीन-हीन लोगों को मिथ्या हीन-भाव की ग्रंथि से मुक्त करते हुए शुद्ध सद्धर्म के रास्ते लगाया और उनमें से अनेकों को परम विमुक्त अवस्था तक पहुँचा कर यह सिद्ध किया कि मनुष्य 'मनुष्य' है। वह किसी भी मां की कोख से जन्मा हो। सही शिक्षा और अनुकूल अवसर प्राप्त होने पर वह ऊंची से ऊंची अवस्था को प्राप्त कर सकता है। शुद्ध चित्त होकर स्वयं ब्राह्मण वन सकता है और सारे समाज के लिए परम पूज्य और प्रणम्य बन सकता है। दूसरी ओर उन्होंने जात्याभिमान में मदहोश लोगों को धर्म की शुद्धता समझायी और उन्हें शुद्ध धर्म के मार्ग पर लाकर उनका कल्याण किया। उनके मन में जितनी करुणा समाज के निरीह, निर्दोष, पददलित लोगों के प्रति थी, उतनी ही करुणा उन भटके हुए भ्रांत लोगों के प्रति भी थी, जो कि जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को स्थापित करके औरों पर अत्याचार करते हुए अपनी भी असीम हानि ही कर रहे थे। धर्म का शुद्ध, सात्विक जीवन न जीते हुए भी अपने आप को उच्च मानते थे। शुद्ध, सात्विक जीवन जीने वाले औरों को नीच मान कर उनके प्रति घृणा प्रजनन करते थे और इस कारण स्वयं अपने सुधार से वंचित रह जाते थे, शुद्ध धर्म का जीवन जीने से वंचित रह जाते थे। ऐसे ही लोग समाज के मुखिया थे। उनका सुधार हुए विना पूरे समाज का सुधार होना कठिन था। उन्हें पुरातन भारत के शुद्ध धर्म का वोध कराना आवश्यक जान कर उन पर असीम करुणा वरसाते हुए भगवान ने समय-समय पर देश के वर्णाभिमानी लोगों को सन्मार्ग दिखाया और उनका कल्याण किया। समाज के बिगड़े हुए माहौल में उनकी धर्म-वाणी का यह मंगल-घोष गूंज उठा–

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

– न जन्म से कोई वृपल यानि चांडाल होता है और न जन्म से ब्राह्मण। कर्म से वृपल होता है और कर्म से ब्राह्मण।

इस प्रकार उन्होंने जन्म और जाति के मुकाबले कर्म और सद्गुणों की महत्ता को स्थापित करने का परिश्रम-पुरुषार्थ किया। यह धर्म और अधर्म का युद्ध था। इस धर्मयुद्ध में प्रज्ञा और वोधि ही उनकी सबल भुजाएं थीं। करुणा और मैत्री ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे। स्नेह और सद्भावना ही उनके संवल थे।

जन्मजात वर्णाश्रमी व्यवस्था का पक्ष लेने वाले स्वयं इस सच्चाई को भुलाये वैटे थे कि वे धर्म के विरोधी हैं और अधर्म के पक्षधर बने हुए हैं। वे यह मिथ्या दलील देते थे कि हम ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए ब्राह्मण हैं और भविष्य में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारी संतति ब्राह्मण ही बनी रहेगी। यह जो ब्रह्मा के पांव से जन्मे हैं, वे शूद्र हैं और भविष्य में भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनकी संतति शूद्र ही बनी रहेगी। हम ब्राह्मण हैं, इसलिए महान हैं, पूज्य हैं, वरेण्य हैं और ये शूद्र हैं, इसलिए नीच हैं और अपूज्य ही नहीं, दुत्कारे जाने योग्य हैं। इसी झूठी दलील ने उन्हें अंधा बना दिया था। भगवान ने उनकी अंधी आंखों को धर्म की सच्चाई देख सकने के लिए ज्ञान की रोशनी देने का प्रयत्न किया। भगवान यह खूब समझते थे कि यह बावली मान्यता कायम रही, तो निश्चय ही धर्म का ह्रास होगा और अधर्म फैलेगा। इस व्यवस्था के चलते कोई क्यों धर्म धारण करेगा ? जो यह मानता है कि मैं ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ ब्रह्म-पुत्र हूं, अतः स्वतः पवित्र हूं, पूज्य हूं और समाज में सदा पवित्र और पूज्य ही वना रहूंगा, वह धर्म धारण करके अपने चित्त को, अपने कर्मों को पवित्र करने की आवश्यकता को क्यों स्वीकारेगा और क्यों इसके लिए कोई प्रयत्न करेगा ? जिसे यह घुट्टी दे दी गयी कि तुम ब्रह्मा के पांव से जन्मे हो, अतः नीच हो, घृणित हो और समाज में सदा नीच और घृणित ही बने रहोगे, वह किसलिए धर्म धारण करके अपने चित्त को और अपने कर्मों को पवित्र करने की मेहनत करेगा ? हजार पवित्र चित्त और पवित्र कर्मी हो जाने पर भी आखिरकार समाज में तो वह सदा नीच और घृणित ही वना रहने वाला है।

अधर्म को प्रोत्साहन देने वाली इसी मनोवृत्ति के फैलने पर लोग धर्म की चर्चा भले करें, उसका गुणगान भले गायें, पर धारण नहीं करेंगे। धारण नहीं करेंगे, तो धर्म का ह्रास ही होगा, अधर्म का विकास ही होगा, अमंगल ही अमंगल होगा।

ऐसी दूषित मान्यता वनी रही, तो आज भी अमंगल होगा, भविष्य में भी अमंगल ही अमंगल होगा। जव किसी ब्राह्मण के हृदय में यह भाव दृढ़ हो जायगा कि **पतितोपि द्विजो श्रेष्ठः,** तो वह पतित होने से बचने के

लिए धर्म धारण करने की आवश्यकता क्यों महसूस करेगा ? क्यों शीलवान वनने का अभ्यास करेगा ? क्यों मन को वश में करने का अभ्यास करेगा ? क्यों मन को विकार-विमुक्त करने का अभ्यास करेगा ? इस सारे तरद्दुद में वह क्यों पड़ेगा ? इसके विना भी वह श्रेष्ठ तो है ही, पूज्य तो है ही। इसके साथ-साथ जन्मजात श्रेष्ठ माना जाने के कारण वह अपना अहं ही वढ़ायेगा, चित्त को मैला करने का कर्म ही करता जायगा।

इसी प्रकार जव किसी शूद्र कहे जाने वाले व्यक्ति को यह विश्वास दिला दिया जायगा कि **न च शूद्रो जितेन्द्रियः** यानि जितेंद्रिय हो जाने पर भी तू श्रेष्ठ नहीं माना जायगा, नीच ही माना जायगा, तो उसे जितेंद्रिय वनने की क्या प्रेरणा जागेगी ? वह शीलवान होने का, मन को वश में करने का और मन को विकार-विहीन करने का तरद्दुद क्यों करेगा ? हर हालत में उसे नीच ही बने रहना है। इसके साथ-साथ जन्मजात नीच माना जाने के कारण उसकी हीनभाव की ग्रंथि प्रबल होती जायगी। वह अपने चित्त को और अधिक मैला ही करता जायगा।

शील-गुणहीन हो, तो भी जन्मजात विप्र होने के कारण पूज्य ही माना जाय और गुणसंपन्न तथा ज्ञानप्रवीण होने पर भी जन्मजात शूद्र होने के कारण दुत्कारा ही जाय, **ताड़न का अधिकारी** ही माना जाय, यह धर्म-विरोधी वृत्ति समाज में न आज फैले और न भविष्य में। लोग धर्म धारण करने को ही पूरा-पूरा महत्त्व दें। जन्मजात वर्णव्यवस्था के चंगुल के बाहर आयें। इस लोक कल्याण की भावना से ही भगवान उस समय के लोगों को धर्म का सही स्वरूप समझाते रहे। ब्राह्मण हो या शूद्र, इस धर्म-विरोधी मान्यता में उलझ कर, अपने भीतर अहंभाव अथवा हीनभाव जगा कर अपनी हानि न करे। न आज करे, न भविष्य में करे। यही उनका मांगल्यमय मंतव्य था और यही उनकी कल्याणकारिणी शिक्षा थी, जिसे कि वे जीवन भर अत्यंत करुणाभरे चित्त से प्रकाशित करते रहे, प्रसारित करते रहे, ताकि सही माने में लोक मंगल हो, सही माने में लोक कल्याण हो।

५. बढ़े पारमी क्षांति की

पारमी अथवा पारमिता कहते हैं परिपूर्णता को। उन सद्गुणों की परिपूर्णता जो कि किसी भी बोधिसत्त्व को संबोधि प्राप्त करने के लिए सामर्थ्य प्रदान करती है, जो कि किसी भी मनुष्य को भव-सागर के पार जाने में सहायिका सिद्ध होती है। दस पारमिताओं में से क्षांति का याने तितिक्षा, सहिष्णुता, सहनशीलता का विशिष्ट महत्त्व है। भव-सागर के ज्वार की उत्ताल तरंगों को धर्म-धैर्य के साथ सहन कर लेना, अप्रिय से अप्रिय हृदय-विदारक घटना के संयोग से भी चित्त को विचलित न होने देना, प्रिय से प्रिय के वियोग पर भी अंतर्तम की समता कायम रखना– यही क्षांति पारमी को परिपुष्ट करना है।

जो बोधिसत्त्व अपनी सभी पारमियों को पराकाष्ठा तक परिपूर्ण करके भगवान गौतम के नाम से सम्यक संबुद्ध बने, उन्होंने अनेकानेक पूर्व जन्मों में अपनी क्षांति पारमी परिपूर्ण करने का भी सफल प्रयत्न किया।

पुत्र-वियोग

भव-संसरण के एक जीवन में बोधिसत्त्व वाराणसी के एक ब्राह्मण कुल में जन्मे। बड़े हुए, अपने परिवार के प्रमुख बने। उनके साथ उनकी पत्नी, एक युवा पुत्र, एक युवा पुत्र-वधू, एक युवा पुत्री और एक दासी थी; यों छः जनों का सुखी परिवार था। परिवार के भरण-पोषण के लिए बोधिसत्त्व नगर के बाहर खेती-बाड़ी करते थे और युवा पुत्र उनका साथ देता था।

सदा की भांति एक दिन वह अपने खेत पर काम कर रहे थे। स्वयं हल चलाने में निमग्न थे, युवा पुत्र खेत का कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके उसे जलाने के काम में लगा था। इतने में कूड़े-कर्कट के ढेर में से एक क्रुद्ध नाग निकला और उसने पुत्र को डस लिया। कुछ ही देर में नाग-विष सारे शरीर में समा गया और किसान का पुत्र बेहोश होकर वहीं गिर पड़ा। बोधिसत्त्व ने दूर से अपने पुत्र को गिरते हुए देखा तो समीप चले आये। परंतु तब तक पुत्र के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। बोधिसत्त्व ने मृत शरीर को

उठा कर समीप के एक पेड़ की छांह में लेटा दिया और उसे कपड़े से ढक दिया। बिना व्याकुल हुए वह पुनः हल चलाने के काम में लग गये।

कुछ देर बाद देखा कि खेत के समीप की पगडंडी पर से एक अन्य किसान नगर की ओर जा रहा है। बोधिसत्त्व ने उससे प्रार्थना की कि वह उनकी घरवाली को एक सूचना पहुँचा दे। सूचना यही थी कि घर की जो दासी नित्य दोपहर को पिता-पुत्र का भोजन लेकर खेत पर आया करती थी वह आज केवल एक का ही भोजन लेकर आये। पहले भोजन लेकर अकेली दासी आया करती थी, आज परिवार के सभी लोग स्वच्छ वस्त्र पहन कर, अपने साथ कुछ सुगंधित फूल लेकर आयें।

यह सूचना जब राहगीर ने ब्राह्मणी को दी तो वह तत्काल समझ गई कि उसका पुत्र नहीं रहा। परंतु यह दुःखद सूचना पाकर ब्राह्मणी विचलित नहीं हुई। परिवार के अन्य चार जने भी अविचलित रहे और बोधिसत्त्व के आदेशानुसार खेत की ओर चल दिये। उनमें से न तो किसी ने रुदन-क्रंदन किया, न विलाप-प्रलाप।

बोधिसत्त्व अपने हर जीवन में धर्म का जीवन जीते हुए किसी न किसी पारमी को परिपुष्ट करने का काम करते हैं। वह केवल स्वयं धर्म का जीवन जीकर नहीं रह जाते बल्कि अपने स्वजन-परिजन, मित्र-बंधुओं को भी धर्ममय जीवन जीने की शिक्षा देते हैं। आगे जाकर स्वयं सम्यक संबुद्ध बनने पर उन्हें अनेकों को शुद्ध धर्म के मार्ग पर आरूढ़ करके भव-मुक्ति की ओर बढ़ने का उचित निर्देशन करना होगा, इसलिए हर जीवन में अत्यंत मैत्री चित्त से धर्म-देशना दे सकने का सामर्थ्य भी बढ़ाते हैं। अतः बोधिसत्त्व अपने सारे परिवार को गृहस्थ की जिम्मेदारियां कुशलतापूर्वक निभाते हुए शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठित होने का नित्य उपदेश देते थे और स्वयं भी धर्म का जीवन जीकर सबके लिए प्रेरणादायक आदर्श उपस्थित करते थे। उन्होंने अपने परिवार वालों को यही शिक्षा दी थी कि वे शील का पालन करें। प्रसन्न चित्त से यथाशक्ति दान दें। साधना करते हुए चित्त को वश में करके उदय-व्यय का बोध जगा कर चित्त को निर्मल करते रहें। समय समय पर मरणानुस्मृति की भावना सबल करते रहें और निसर्ग के नियमों की यह सच्चाई समझते रहें कि जो जन्मा है, वह देर-सबेर मृत्यु को प्राप्त होगा ही। मृत्यु के चंगुल से एक भी प्राणी नहीं बच सकता। बोधिसत्त्व स्वयं मरणानुस्मृति की साधना में पक गये थे और उन्होंने अपने परिवार वालों को भी पकाया था।

जब परिवार के चारों लोग घर से खेत पर आये तो जिस बात की आशंका थी, वही सामने देखी। परंतु युवा पुत्र का मृत शव देख कर न

कोई रोया, न किसी ने छाती पीट कर विलाप किया। सब चिता के लिए आसपास लकड़ियां चुनने लगे। थोड़ी देर में चिता तैयार हो गई। सबने मिल कर मुर्दे शरीर को चिता पर लेटाया। अपने साथ लाये हुए सुगंधित पुष्प उस पर चढ़ाये और चिता प्रज्वलित करके सब उसके समीप बैठ गये।

एक व्यक्ति ये सारी घटनाएं देख रहा था। सब कुछ देख कर वह विस्मय-विभोर हो उठा। समीप आकर उसने किसान से वार्त्तालाप आरंभ की। उसने पूछा –

– ''क्या किसी पशु को जला रहे हो ?''

– ''नहीं, यह पशु नहीं है, मृत मनुष्य का शरीर है जिसे हम जला रहे हैं।'' बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया।

– ''तो यह तुम्हारा कोई दुश्मन रहा होगा ?''

– ''दुश्मन नहीं, यह मेरा इकलौता पुत्र था।''

– ''तो क्या पुत्र के साथ तुम्हारे संवंध विगड़े हुए थे ?''

– ''नहीं भाई, नहीं। यह मेरा अत्यंत प्रिय पुत्र था।''

– ''तो इस इकलौते प्रिय पुत्र को खोकर तुम रोते क्यों नहीं ? विलाप क्यों नहीं करते ?''

– ''जो गया सो गया। जैसे सांप अपनी केंचुली छोड़ कर चल देता है वैसे ही यह भी अपना शरीर छोड़ कर चला गया। अब विलाप करने से क्या मिलेगा ? विलाप करने से तो वह वापिस आने वाला नहीं है।''

आगंतुक ने यही प्रश्न मृत युवा की माता से किया। उसने कहा – ''पिता का हृदय कठोर हो सकता है, पर तुम तो नौ महीने पेट में पाल कर जन्म देने वाली, स्तन-पान करा कर उसका पोषण करने वाली मां हो। मां का हृदय तो बड़ा कोमल होता है। इकलौता पुत्र खोकर भी तुम क्यों नहीं रोती ?''

इसी प्रकार मृतक की भार्या से भी उसने प्रश्न किया – ''तुम्हारा तो सर्वस्व लुट गया। इस कम उम्र में तुमने अपना सुहाग खो दिया। फिर भी तुम रोती क्यों नहीं ?''

ऐसा ही प्रश्न उसने मृतक की बहन से किया – ''बहन को अपना भाई अत्यंत प्यारा होता है। तुम कैसी बहन हो जो ऐसे भाई को खोकर भी क्रंदन नहीं कर रही ?''

तदनंतर उसने घर की दासी से पूछा – ''मृतक व्यक्ति अवश्य तुम्हारे साथ अत्यंत कटुता भरा कठोर व्यवहार करता रहा होगा। इसीलिए तुम उसके मरने पर व्यथित नहीं हो।''

दासी ने कहा – "वह घर का दुलारा अत्यंत मृदुभाषी था। सबके साथ उसका व्यवहार अत्यंत मधुर था। वह सवका प्यारा था। वड़ा होनहार था।"

– "फिर भी कोई नहीं रोया ?"

सबका यही उत्तर था – "रोने से किसी को क्या मिलेगा भला ? वह विना बुलाये आया था और विना आज्ञा लिए चला गया। संसार में जीवन ही अनिश्चित होता है, मृत्यु तो सवकी निश्चित ही है। अपने कर्मों के अनुसार प्राणी आते हैं और अपने कर्मों के अनुसार चले जाते हैं।

यथागतो तथागतो तत्थ का परिदेवना ?

– जैसे आया वैसे चला गया, इसके लिए रोना-पीटना क्या ?

जाने वाला चला गया। यह जो निष्प्राण शरीर चिता पर जल रहा है, वह क्या जाने कि हम उसके लिए रो रहे हैं ? रोकर हम न अपना भला करते हैं, न किसी और का। रोकर स्वयं भी दुःखी होंगे, औरों को भी दुःखी बनायेंगे।

तस्मा एतं न सोचामि गतो सो तस्स या गति।

– जाने वाला अपने कर्मानुसार उसकी जैसी गति है वहां चला गया। इसके लिए हम शोक नहीं करते।"

इस प्रकार वोधिसत्त्व ने इस जीवन में स्वयं अपनी क्षांति पारमी वढ़ाई तथा अपनी-अपनी क्षांति पारमी वढ़ा सकने में परिजनों के भी सहायक हुए।

पत्नी-वियोग

बोधिसत्त्व के किसी एक जीवन में उनकी अत्यंत रूपवती युवा भार्या रोगग्रस्त होकर काल के गाल में समा गई। लोग उस सुंदर युवती को मृत देख कर व्याकुल हो रहे थे, परंतु वोधिसत्त्व अपनी प्रिय पत्नी के मरण से जरा भी विचलित नहीं थे। ऐसी अवस्था में सामान्य लोग पत्नी-शोक में इतने व्याकुल हो जाते कि न खाते न पीते, न नहाते न धोते, न अपने काम-धंधे में लगते, बल्कि श्मसान भूमि का चक्कर लगाते हुए रोते-विलखते विलाप ही करते रहते।

परंतु वोधिसत्त्व ने ऐसा कुछ नहीं किया। जब लोगों ने कारण पूछा तो उनका यही उत्तर था –

"जिसका स्वभाव टूटने का है वह देर सवेर टूटता ही है। हर प्राणी मरणधर्मा है। यही उसका स्वभाव है। वह मरता ही है। निसर्ग के नियमों के अनुसार यह भी मृत्यु को प्राप्त हुई। इसमें रोना क्या ? जब तक जीवित

थी तव तक मेरी कुछ लगती थी। वह मेरी सेवा करती थी और मैं उसकी देखभाल करता था। मरने के बाद वह अपने कर्मानुसार किसी अन्य लोक में जन्मी है। अव वह मेरी क्या लगती है ? मैं उसका क्या लगता हूं ? रोने से न मेरा लाभ होगा, न उसका।''

यों बोधिसत्त्व ने इस जीवन में भी क्षांति पारमी की पुष्टि की।

अग्रज-वियोग

किसी एक जीवन में बोधिसत्त्व एक धनवान गृहस्थ के घर जन्मे। समय पाकर माता-पिता का देहांत हुआ। उनका बड़ा भाई सारा काम-धंधा देखता था। वोधिसत्त्व सहित सारा परिवार बड़े भाई पर आश्रित था। उसी के सहारे सव जीते थे। परंतु शीघ्र ही किसी रोग का शिकार होकर वह भी मृत्यु को प्राप्त हुआ। बोधिसत्त्व ने धर्म-धैर्यपूर्वक इस आघात को सहन किया। रो-रोकर विलाप करते तो अपनी भी हानि करते और परिवार के अन्य लोगों की भी। अपने मृत भाई को भी कोई लाभ नहीं पहुँचा पाते। अतः क्षांति पारमी का संवर्धन करते हुए वे रुदन-क्रंदन से सर्वथा विमुख रहे। लोगों ने प्रश्न किया तो उन्होंने सबको धर्म समझाकर सांत्वना दी– ''सारे प्राणी मरणधर्मा हैं। समय आने पर शरीर खंडित होता ही है। उसके लिए विलाप करना वेमाने है, निरर्थक है।''

पितामह-वियोग

किसी जीवन में बोधिसत्त्व एक धनी गृहस्थ के घर जन्मे। बड़े होने पर उनका दादा काल-कवलित हुआ। बोधिसत्त्व दादा के बिछोह से विचलित नहीं हुए, परंतु उनका पिता अपना धीरज खो बैठा। उसका रुदन-क्रंदन रोके नहीं रुक रहा था। उसने अपने पिता के मृत शरीर का दाहकर्म करके उसके अस्थि-अवशेषों पर एक छतरी बनाई और वहां जाकर नित्य विलाप करता था। बोधिसत्त्व ने अपने पिता को समझाने की वहुत कोशिश की, पर असफल रहे। तब उन्हें एक युक्ति सूझी। वह कहीं से एक मरा हुआ बैल ले आये और उसके सामने हरी-हरी घास और शीतल जल रख कर रुदन करने लगे कि वह फिर से जी उठे और यह आहार ग्रहण कर ले। लोगों ने बहुत समझाया पर वह रुदन ही करते रहे। लोगों ने समझा कि युवक सचमुच पागल हो गया है जो इस मुर्दे बैल को जिंदा करके, आहार खिलाना चाहता है।

पिता ने यह सब सुना तो बहुत घबराया। पितृ-वियोग के शोक को भूल कर अब वह पुत्र के लिए चिंतित हो उठा कि ऐसा समझदार युवक पागल कैसे हो गया ? उसने अपने पुत्र को समझाना चाहा कि रोना निरर्थक है। यह मरा हुआ बैल पुनः जी नहीं सकता। यह सुन कर बोधिसत्त्व ने कहा – "पिताजी, देखिये इस बैल के तो सिर, मुँह, पेट, पांव आदि सारे अंग कायम हैं और प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। मेरे रोने से यह अवश्य जी उठेगा। आप पितामह के लिए रोते हो जिनका सारा शरीर जल चुका, कुछ हड्डियां मात्र बची हैं। यदि आपके रोने से ये हड्डियां जी उठेंगी तो मेरे रोने से यह मरा बैल क्यों नहीं जी उठेगा ?" यह सुन कर पिता का होश जागा।

इस प्रकार बोधिसत्त्व ने अपनी क्षांति पारमी बढ़ाई और पिता को भी धर्म का बल प्रदान किया।

पिता-वियोग

अनगिनत भव-संसरण की एक भव-शृंखला में बोधिसत्त्व दशरथ-पुत्र राम बन कर जन्मे। पिता के आदेश पर उन्होंने राज्य त्याग कर सीता और लक्ष्मण सहित वन-गमन किया। कुछ समय के बाद पिता की मृत्यु हो गई और भरत उन्हें आग्रहपूर्वक वापिस राजधानी ले आने के लिए वन में पहुँचा। बोधिसत्त्व राम को जब पिता के मरने की सूचना मिली तो वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। उस समय लक्ष्मण और सीता फल-फूल चुनने के लिए बाहर गये हुए थे। राम जानते थे कि उन दोनों का हृदय बहुत कोमल है। यह दुःखद समाचार सुन कर वे व्याकुल, व्यथित हो उठेंगे। अतः उनके लौट आने पर राम ने बहुत यत्नपूर्वक यह कटु संवाद सुनाया जिससे कि वे उस दुःख को सह सकें, परंतु वे दोनों अत्यंत विकल हो उठे। भरत तथा उसके साथ आया हुआ सारा राजपरिवार तो रुदन-क्रंदन कर ही रहा था। क्षांति पारमिता के धनी बोधिसत्त्व राम ने सबको धीरजभरी धर्मदेशना दी और समझाया –

"बहुत विलाप करके भी हम मृत पिता को जीवित नहीं कर सकते। प्रिय-वियोग के समय रुदन-क्रंदन से यदि किसी का भला होता हो तो हम सबको अवश्य रोना चाहिए, परंतु इससे तो अपनी तथा औरों की हानि ही होती है। रोने वाला अपने आपके प्रति हिंसा करता है, औरों का रुदन बढ़ा कर उनके प्रति भी हिंसा करता है। रोने-पीटने से मृत व्यक्ति को भी कोई लाभ नहीं होता। अतः रोना निरर्थक है। समझदार आदमी को चाहिए कि

ऐसे समय मन में दुःख जागते ही उसे तुरंत दूर कर दे, ठीक वैसे ही जैसे कि घर में आग लगने पर उसे तुरंत बुझा दिया जाता है।''

बोधिसत्त्व राम के धर्मोपदेश से सबका रुदन-क्रंदन रुका। इस प्रकार बोधिसत्त्व ने अपनी क्षांति पारमी का संवर्धन किया, तथा औरों को भी क्षांति-धर्म सिखाया। (जातक कथाओं में से)

साधको, जीवन में अनचाही घटना घटती ही रहती है। प्रिय व्यक्ति, वस्तु, स्थिति से वियोग होता ही रहता है। बोधिसत्त्व के अनेक जन्मों के अनुभवों से हम लाभान्वित हों और सहिष्णुता की पारमी का संवर्धन कर अपना कल्याण साध लें।

६. धर्म-समन्वित

कोशल नरेश प्रसेनजित लगभग अस्सी बरस का वूढ़ा हो चला था। लगभग चालीस वर्षों से उसका भगवान बुद्ध के साथ संपर्क रहा। उसने भगवान को बहुत निकट से देखा था। उनके द्वारा उपदेशित धर्म सुना था। बार-बार सुना था। धर्म धारण करके भी देखा था। उससे लाभान्वित भी हुआ था। उसने भगवान के अनेक गृहस्थ उपासक, उपासिकाओं को तथा गृहत्यागी भिक्षु भिक्षुणियों को धर्माचरण में रत देखा था। वार-बार देखा था। प्रसेनजित एक वड़े भू-भाग का शासक था। अतः पूर्णतया सांसारिक व्यक्ति था। उसे अपनी और अपनी राज्यसत्ता की सुरक्षा के लिए सजग रहना पड़ता था। उसके अनेक सेवक, सलाहकार, गुप्तचर इसी कार्य में उसकी सहायता करने में लगे रहते थे। उसने निश्चय ही बुद्ध की और उनके शिष्यों की पूरी जांच-पड़ताल की होगी और करवाई होगी।

परिव्राजका सुंदरी की हत्या संवंधी घटना को ले कर उसने भगवान के आश्रम की जांच-पड़ताल करवाई और वहां से सुंदरी का शव भी ढूंढ निकलवाया। ऐसा करवाते हुए उसे झिझक नहीं हुई। यह अलग बात है कि एक सप्ताह के भीतर वास्तविक हत्यारों का पता लग गया। भगवान तथा उनके भिक्षुओं पर लगा लांछन मिथ्या सिद्ध हो गया।

प्रसेनजित की उपस्थिति में, भरी सभा में चिंचा माणविका ने भगवान पर लांछन लगाया। परंतु पेट पर लकड़ी बांधकर उसका रचा ढोंग चल न सका। वहीं सभा में उसकी पोल खुल गयी।

धम्मपद-अट्ठकथा–३,१७८

एक वार प्रसेनजित ने स्वयं भगवान की परीक्षा ली। धर्म गुरुओं का नकली भेष बना कर, भगवान के आश्रम के सामने से गुजरते हुए अपने गुप्तचरों को देख कर प्रसेनजित ने उन्हें झुककर नमस्कार करने का ढोंग किया और कहा कि यह सब अरहंत हैं अथवा अरहंत पथ पर आरूढ़ हैं ? भगवान ने बोधि चित्त से उनकी वास्तविकता जानी और कहा कि न यह अरहंत हैं और न अरहंत पथ पर आरूढ़। ऐसी अनेक घटनाओं के कारण उसके मन पर भगवान के प्रति श्रद्धा जागी और दृढ़ हुई होगी।

शासक होने के कारण अन्य अनेक आचार्यो की, उनकी शिक्षा और शिष्यों की भी उसने जांच पड़ताल करवाई ही होगी। ऐसी जांच-पड़ताल ने भी उसके मन में भगवान के प्रति श्रद्धा बढ़ाई होगी। तो ही जीवन के इस संध्याकाल में उसने भगवान के प्रति जो विचार प्रकट किये वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भारत के इस ऐतिसाहिक महापुरुष के उज्जवल जीवन पर समुचित प्रकाश डालते हैं।

उन दिनों, एक बार प्रसेनजित राजकार्य से **नगरक** नामक स्थान पर गया हुआ था। सारा शाक्य प्रदेश उसके आधीन था। राजकार्य पूरा करके उस प्रदेश में घूमता हुआ समीप ही शाक्यों के **मेदलुंप** नामक निगम में जा पहुँचा। उसे पता चला कि भगवान बुद्ध यहीं विहार कर रहे हैं। वह अत्यंत श्रद्धायुक्त हो उनके दर्शनार्थ वहां पहुँचा जहां वे ठहरे हुए थे। वहां विहार में प्रवेश करके वह भगवान के चरणों में सिर झुका कर भगवान के पैरों को मुख से चूमने लगा। हाथों से दबाने लगा। यों सम्मान प्रदिर्शत करता हुआ अपना नाम सुनाने लगा – ''मैं कोशल नरेश राजा प्रसेनजित हूं।'' यह देख कर भगवान ने कहा – ''क्या बात है महाराज! क्या देख कर इस शरीर के प्रति इतना आदर और ऐसा विचित्र सम्मान प्रकट कर रहे हो ?''

इस पर कोशलेश ने उत्तर दिया –

''भगवान मैं आप को धर्म-समन्वित देखता हूं याने धर्ममय देखता हूं। भगवान सम्यक संबुद्ध हैं। भगवान का धर्म सुआख्यात है। भगवान का श्रावक संघ सन्मार्ग पर आरूढ़ है।

भगवान! मैंने अनेक श्रमण ब्राह्मणों को ब्रह्मचर्य का जीवन जीते देखा है। लेकिन फिर यह भी देखा है कि उनमें से कोई-कोई दस वर्ष और कोई बीस, तीस या चालीस वर्ष के भीतर मार्ग में कुछ कमी देख कर ऊव जाते हैं और संन्यास छोड़ कर फिर काम-भोग का गृहस्थ जीवन जीने लगते हैं। लेकिन भंते! यहां देखता हूं कि ये भिक्षु जीवनभर ऐसे ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हैं जो कि परम परिशुद्ध है, परम परिपूर्ण है। मैं ऐसा परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्माचरण और कहीं नहीं देखता। इस कारण भी भगवान, मैं आप को धर्म-समन्वित देखता हूं याने धर्म-मय देखता हूं। देखता हूं आप सम्यक संबुद्ध हैं। आपका उपदेशित धर्म सुआख्यात है। आपका श्रावक संघ सन्मार्ग पर आरूढ़ है।

और फिर भंते! मैं संसार में देखता हूं कि राजा राजा से, क्षत्रिय क्षत्रिय से, ब्राह्मण ब्राह्मण से, गृहस्थ गृहस्थ से, माता पुत्र से, पुत्र माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, भाई बहन से, बहन भाई से, मित्र मित्र से परस्पर विवाद करते रहते हैं, झगड़ते रहते हैं। जवकि यहां भंते! मैं भिक्षुओं को देखता हूं यह किस प्रकार –

समग्गे सम्मोदमाने अविवदमाने खीरोदकीभूते, अञ्ञमञ्ञं पियचक्खूहि सम्पस्सन्ते विहरन्ते।

संगठित होकर रहते हैं, एक दूसरे के प्रति सम्मोद भाव रखते हुए, एक दूसरे से विना विवाद व झगड़ा किये, मिल-जुल कर रहते हैं, जैसे क्षीर में उदक याने दूध में पानी और किस प्रकार एक दूसरे को प्यार भरे नेत्रों से देखते हैं। इस प्रकार एकता से रहने वाली परिषद मैं अन्यत्र कहीं नहीं देखता।

इस कारण भी भंते! मैं आप को धर्म समन्वित देखता हूं याने धर्ममय देखता हूं। देखता हूं आप सम्यक संबुद्ध हैं। आपका उपदेशित धर्म सुआख्यात है। आपका श्रावक संघ सन्मार्ग पर आरूढ़ है। और फिर भंते! मैं अनेक आश्रमों में गया हूं। मैंने देखा है कि वहां के श्रमण अस्वस्थ शरीर और अस्वस्थ चित्त से गृहत्यागी का जीवन जीते हैं। दर्शकों को आता देख, आंख बंद करके ध्यान करने का ढोंग करते हैं। मानो बेमन से ब्रह्मचर्य पालन कर रहे हों। भंते! उनकी तुलना में यहां देखता हूं ये भिक्षु शरीर और चित्त से सदा स्वस्थ प्रसन्न रहते हैं; शांत, मृदु चित्त से विहार करते हैं। इस कारण भी भंते! मैं आप को धर्म-समन्वित देखता हूं याने धर्ममय देखता हूं। देखता हूं आप सम्यक संबुद्ध हैं। आपका उपदेशित धर्म सुआख्यात है। आपका श्रावक संघ सन्मार्ग पर आरूढ़ है।

और फिर भंते! मैं एक छत्रधारी-दंडधारी, शक्ति-संपन्न शासक हूं। जिसे चाहूं मरवा दूं, जिसे चाहूं देश निकाला दे दूं। फिर भी जब मैं अपनी राज्य-परिषद में बैठा हुआ किसी गंभीर कार्य में संलग्न होता हूं और लोगों को आज्ञा देता हूं कि तुम सब शांत बैठे रहो। बीच-बीच में बतिया कर मेरे काम में बाधा मत डालो। तिस पर भी भंते! वे बीच में खुसर-फुसर करने ही लगते हैं, शांत मौन नहीं ही बैठ पाते। लेकिन भगवान, मैं देखता हूं कि जब आप धर्मोपदेश देते हैं तो सैकड़ों की संख्या में बैठे हुए श्रोता दत्तचित्त होकर, निःशब्द रह कर सुनते हैं। किसी एक भिक्षु के खांसने-खँखारने तक का शब्द नहीं होता। भंते! मुझे याद है, मैंने स्वयं देखा है, एक बार सैकड़ों की संख्या वाली परिषद को आप धर्मदेशना दे रहे थे उस समय एक श्रावक जरा सा खांसा। इतने में पास बैठे किसी अन्य ने उसका घुटना दबाया और बिना एक शब्द बोले, संकेत मात्र से उसे निःशब्द रहने का परामर्श दिया। तव मेरे मन में यह भाव जागा–

"अच्छरियं वत, भो, अब्भुतं वत, भो।

– सचमुच बड़ा आश्चर्य है रे! सचमुच बड़ी अद्भुत बात है रे!"

भंते! आप के पास न कोई शस्त्र है, न कोई दंड है फिर भी आप अपनी श्रोता-परिषद को किस प्रकार शांत, सुविनीत रख पाते हैं? भंते! अन्य कहीं ऐसी शांत, सुविनीत शिष्य-मंडली मेरे देखने में नहीं आयी।

इस कारण भी भंते! मैं आप को धर्म-समन्वित देखता हूं याने धर्ममय देखता हूं। देखता हूं आप सम्यक संबुद्ध हैं। आपका उपदेशित धर्म सुआख्यात है। आपका श्रावक संघ सन्मार्ग पर आरूढ़ है।

और फिर भंते! मैं देखता हूं कोई-कोई क्षत्रिय या ब्राह्मण, गृहस्थ या गृहत्यागी श्रमण वड़े पंडित शास्त्रज्ञ होते हैं, जो वाद-विवाद में वड़े निपुण होते हैं, वाल-वेधी होते हैं याने वाल की खाल खींचने वाले होते हैं। वुद्धि के वल पर अपने विचक्षण तर्क-वितर्कों द्वारा प्रतिपक्षी की दार्शनिक मान्यताओं की धज्जियां उड़ा देने वाले होते हैं। जव वे सुनते हैं कि आप इस ओर आ रहे हैं तो वे आप से वाद-विवाद करने के लिए प्रश्नों की लंवी तालिका तैयार करते हैं। अनुमानित उत्तरों के प्रतिकार के लिए भी प्रति-प्रश्न तैयार करते हैं। जव वे जान लेते हैं कि आप इस गांव निगम में आ गये हैं तो आप से मिलने जाते हैं। परंतु जव आप की धर्मदेशना सुनते हैं तो उस धर्मवाणी से इतने प्रभावित हो जाते हैं कि आप से प्रश्न ही नहीं कर पाते, वाद-विवाद करना तो दूर रहा। वल्कि आप के श्रद्धालु श्रावक वन जाते हैं। इनमें से कई आप से प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। आप से साधना-विधि सीख कर एकांत में आत्म-संयमित होकर अभ्यास करते हैं। इस साधना द्वारा समय आने पर अभिज्ञान द्वारा आश्रव-विमुक्ति की अवस्था स्वयं प्राप्त कर निर्वाण का साक्षात्कार कर लेते हैं। तव कहते हैं– "अरे! हम तो पथभ्रष्ट थे, बरबाद ही हो रहे थे, पूरी तरह वरवाद हो रहे थे। हम वस्तुतः श्रमण न होते हुए भी श्रमण होने का, ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण होने का, अरहंत न होते हुए भी अरहंत होने का मिथ्या दावा करते थे। अव हम सही माने में श्रमण हैं, ब्राह्मण हैं, अरहंत हैं।"

इस कारण भी भंते! मैं आप को धर्म-समन्वित देखता हूं याने धर्ममय देखता हूं। देखता हूं आप सम्यक संबुद्ध हैं। आपका उपदेशित धर्म सुआख्यात है। आपका श्रावक संघ सन्मार्ग पर आरूढ़ है।

और फिर भंते! मेरे दो सेवक हैं– नाम है ऋषिदत्त और पुराण। वे स्थापत्य याने भवन निर्माण का काम करते हैं। यही उनकी आजीविका है। मैं ही उन्हें आजीविका प्रदान करता हूं। वह मेरे ही द्वारा दिये गये अन्न-जल पर पलते हैं। परंतु फिर भी मैं देखता हूं कि वह मेरा उतना सम्मान नहीं करते जितना कि आप का। एक वार भंते! हम दुश्मन पर धावा बोलने जा

रहे थे। ऋषिदत्त और पुराण हमारे साथ थे। रात्रि विश्राम के लिए उन्होंने एक सराय ढूंढी। वहीं भीड़-भाड़ में हम सोये। हमने देखा कि रात को देर तक वह दोनों परस्पर धर्म-चर्चा करते रहे और जब सोने के लिए लेटे तो जिस दिशा में आप विहार कर रहे थे, उस दिशा में सिर किया और मेरी ओर पांव करके सो गये। यह देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। अरे! ये मेरे राजमिस्त्री और मैं इनका अन्नदाता, जीविकादाता। परंतु यह मुझसे ज्यादा आप को सम्मान देते हैं। अवश्य ही इन्होंने आप की शिक्षा ग्रहण कर कुछ ऐसा विशिष्ट फल प्राप्त किया है, जो कि पहले इनके पास नहीं था।

इस कारण भी भंते! मैं आप को धर्म-समन्वित देखता हूं याने धर्ममय देखता हूं। देखता हूं आप सम्यक संबुद्ध हैं। आपका उपदेशित धर्म सुआख्यात है। आपका श्रावक संघ सन्मार्ग पर आरूढ़ है।''

कोशलेश ने इतनी बात तो भगवान के धर्म-समन्वय होने की कही। फिर एक दो बातें लोकीय भी कही। उसने कहा – ''भंते! आप भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूं। आप भी कोशलीय हैं, मैं भी कोशलीय हूं। आप भी अस्सी वर्षीय हैं और मैं भी अस्सी वर्षीय हूं। इसलिए भी भंते! यह मेरे लिए उचित ही है कि मैं आपका परम आदर करूं और आप के प्रति ऐसा विचित्र सम्मान प्रकट करूं।''

यह कह कर कोशल नरेश प्रसेनजित भगवान को अभिवादन कर आसन से उठा और उनकी प्रदक्षिणा कर चला गया।

उसके चले जाने के थोड़ी देर बाद भगवान ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया और कहा –

''यह राजा प्रसेनजित धर्म-चैत्य के बारे में याने धर्म-प्रतीकों के बारे में इतना कुछ कह गया है।

भिक्षुओ! **उग्गणहत्थ धम्मचेतियानि** – *धर्म चैत्यों को सीखो।*
परियापुणाथ धम्मचेतियानि – *उन्हें परिपूर्ण करना सीखो।*
धारेथ धम्म चेतियानि – *उन्हें धारण करना सीखो।*
अत्थसंहितानि धम्मचेतियानि आदिब्रह्मचरियकानि।
– *धर्म-चैत्य सार्थक हैं। ब्रह्मचर्य जीवन के आदि मूल हैं।''*

धर्म धारण करना ही वस्तुतः स्वयं धर्म-चैत्य बनना है।
आओ, धर्म धारण करें! सचमुच यही मंगल मूल है।

७. कीचड़ में कमल खिला

वज्जियों की विशाल राजधानी वैशाली, जन-कोलाहल से भरपूर, जनाकीर्ण। एकतंत्रीय न हो कर प्रजातंत्रीय राज्य, राज्य-सभा के सभी सदस्य राजा के पद से सुशोभित; अतः राजनगरी उनके अनेक महलों से, कूटागारों से, पुष्करणियों से, उद्यानों से सुंदर, सुशोभित। पुष्करणियों में रात के समय कुमुद खिलते और दिन में कमल। उद्यानों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पेड़ फलों और फूलों से लदे नगर की सुषमा में चार चांद लगाते थे। सारा वज्जी राष्ट्र धन-धान्य से परिपूर्ण था, अतः समस्त नागरी वातावरण विलास-वैभव की मादक तरंगों से तरंगित रहता था।

नगर के बाहर एक आम्रकुंज था। एक दिन प्रातःकाल उद्यान-रक्षक माली कुंज की रखवाली के लिए वहां पहुँचा तो यह देख कर अत्यंत विस्मित हुआ कि एक घने आम्र-वृक्ष के तले एक सद्यःजात कन्या लेटी पड़ी है। जननी ने उसे पेड़ तले जना और मल-मूत्र की तरह छोड़ कर चली गयी। इस परित्यक्ता वालिका की जननी सचमुच बड़ी कठोर-हृदया रही होगी। परित्यक्ता कन्या निश्चय ही किसी राजघराने की व्यभिचारिणी नारी की अवैध संतान थी अथवा किसी गणिका की अनवांछित पुत्री थी। उस मासूम बच्ची के चेहरे पर सौंदर्य की आभा फूट रही थी। माली ने उसे उठा लिया और अपने घर ले आया। मालिनी निःसंतान थी, संतान की भूखी थी। वालिका को देखा तो उसके मन में वात्सल्य उमड़ आया। उसकी छाती भीग गयी। उसने कन्या को अपनी छाती से लगा लिया और उसका मुख चूम लिया। कैसी निर्दयी होगी वह मां जिसने जन्म देते ही अपने हृदय की कली को यों तोड़ कर मुर्झाने के लिए फैंक दिया। अच्छा हुआ, वह किसी हिंसक पशु का ग्रास नहीं बन गयी। इस विशाल आम्र-वृक्ष ने ही मानो उसे सुरक्षित रखा, अतः मालिनी ने उसका नाम अंबपाली रखा। बड़ी हो कर उसने बहुत से आम के वृक्ष लगाये और पाले, इस माने में भी उसका अंबपाली नाम सार्थक हुआ।

मालिनी ने कन्या को बड़े प्यार से पाला। वह दूज के चांद की टुकड़ी गरीब मालिन के प्यार में श्रीवृद्धि को प्राप्त हुई। जैसे उसके बाग की कलियां

समय पाकर प्रफुल्लित फूल में वदल जाती थीं, वैसे ही यह कन्या अनिंद्य सौंदर्य लिए हुए वालिका से किशोरी और किशोरी से नवयौवना के रूप में प्रफुल्लित होती चली गयी। शुक्ल पक्ष की द्वितीया की चंद्ररेखा इस षोडशी के रूप में पूर्णिमा का परिपूर्ण चांद वन गयी। उसने नृत्य विद्या सीखी और उसमें पारंगत हुई, वाद्य-विद्या सीखी और उसमें प्रवीण हुई, संगीत-विद्या सीखी और उसमें दक्ष हुई। इसी प्रकार अनेक ललित-कलाओं में निपुणता प्राप्त की। इन सब ने उसके अप्रतिम सौंदर्य में विशिष्ट सुरभि भर दी।

प्रजातंत्र के राजघरानों के मनचले युवकों की दृष्टि अंबपाली पर पड़ी। सभी उसे हथियाने के लिए लालायित हो उठे। अपनी बनाने के लिए आतुर हो उठे। अनेकों की तीव्र आकांक्षाएं पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा में बदलीं, प्रतिस्पर्द्धा प्रतिद्वंद्विता में बदली और इस पारस्परिक कलह ने नगर की और राष्ट्र की सुरक्षा, शांति को खतरे में डाल दिया। बड़े-बूढ़ों ने सुलह करवानी चाही पर असफल रहे। अतः सब ने मिल कर फैसला किया कि वह किसी एक की न होकर **सब्बेसं होतु** याने सब की हो। किसी एक घर की वधू न हो कर नगरवधू हो, जनपदवधू हो। किसी एक घर की कुलशोभिनी न होकर नगरशोभिनी हो, जनपदशोभिनी हो। अतः सब ने मिल कर उसे जनपदकल्याणी के पद पर आसीन किया। जनपद की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी के लिए यह पद निश्चित हुआ करता था। राज्य ने जनपदकल्याणी की एक रात की कीमत पचास मुद्राएं निश्चित की जो कि उन दिनों के मूल्यों के अनुसार बहुत अधिक थी।

अंबपाली इस निर्णय से नाखुश नहीं थी। जनपद-सुंदरी के पद पर सुशोभित होना उसे अच्छा लगा। वह अपने पेशे से खुश थी। दिन-पर-दिन उसकी रूप-शोभा की प्रसिद्धि फैलने लगी। उसके कारण वैशाली नगर और वज्जियों के जनपद की शोभा-प्रसिद्धि बढ़ने लगी। पड़ौसी जनपदों में भी अंबपाली की ख्याति फैली। उसी के लिए अनेक लोग वैशाली आने लगे। समीप के मगध जनपद के राजगृह नगर का निगमपति किसी राजकार्य से वैशाली आया। वहां उसने अंबपाली की बड़ी ख्याति सुनी। वह उसे देखने गया। लौट कर मगध नरेश बिंबिसार को सारा विवरण कह सुनाया। बिंबिसार तब तक भगवान बुद्ध के संपर्क में नहीं आया था। अभी वह नवयौवन के मादक ज्वार में से गुज़र रहा था। राज्य-सत्ता का मद तो था ही, काम-मद भी कम नहीं था। जहां कहीं किसी रूपसुंदरी की चर्चा सुनता, उसे प्राप्त करने के लिए कामातुर हो उठता। एक शासक की अपार शक्तियां होती हैं परंतु वे उसके राज्य तक ही सीमित रहती हैं। पराये राज्य में उसका प्रवेश भी खलबली मचा देने का कारण बन सकता है। अतः ऐसी अवस्थाओं में वह

भेष वदल कर ही प्रवेश करता था। अवंति जनपद की राजधानी उज्जैन नगरी की जनपदकल्याणी पद्मावती के पास वह इसी प्रकार छद्म-वेष में पहुँचा था। तव तो उसे अन्य अनेक मध्यवर्ती राज्यों में से गुजरना पड़ा था। पर वज्जी जनपद तो पड़ोस में ही था। वैशाली राजनगरी चंद योजन की दूरी पर ही स्थित थी। वह कुछ एक साथियों के संग वेष वदल कर वैशाली जा पहुँचा और उसकी कीमत चुका कर उसने एक रात अंबपाली के साथ बितायी। इसी से अंवपाली को गर्भ रह गया। उसने अंवपाली को अपना सही परिचय वता दिया था। अतः गर्भिणी होने पर अंवपाली ने इस तथ्य की सूचना मगध नरेश को भिजवायी। विंविसार ने उसके भरण-पोषण के लिए आवश्यक धन भिजवाने का प्रवंध करवा दिया। समय पा कर अंवपाली को प्रसव हुआ। उसने एक वालक को जन्म दिया। विंबिसार के उस पुत्र का नाम रखा गया – विमल कौंडण्य।

विंविसार ने पद्मावती को आदेश दिया था कि अपना पुत्र अभयकुमार राजगृह के राजमहल में पालन-पोषण के लिए भेज दे। पद्मावती ने यही किया। परंतु विमल कौंडण्य अपनी माता अंवपाली के पास ही रहा। हो सकता है मगध-नरेश ने उसकी मांग की हो परंतु अंबपाली को पुत्र-वियोग स्वीकार्य न हुआ हो।

युवा हो कर विमल कौंडण्य वैशाली में ही भगवान बुद्ध के संपर्क में आया। नहीं कहा जा सकता कि उसे भगवान बुद्ध की ओर मोड़ने में विंविसार का कितना हाथ था, यद्यपि वह अपने सारे परिवार को भगवान की शिक्षा से लाभान्वित देखा चाहता था। विमल कौंडण्य राजगृह के राजमहलों में नहीं गया वल्कि अपनी माता के साथ वैशाली में रहा। अतः अधिक संभावना इस वात की है कि वह वैशाली के ही किसी परिचित के माध्यम से भगवान के संपर्क में आया हो। तब तक वैशाली में भगवान वुद्ध की वहुत ख्याति फैल चुकी थी। धन-धान्य से परिपूर्ण वैशाली नगरी और लिच्छवी जनपद एक वार दुर्भिक्ष के शिकार हुए। बड़ी संख्या में भूखे असहाय लोग मरने लगे। भूख से मरने वालों की संख्या इतनी बढ़ी कि मुर्दों की लाश उठवानी दुष्कर हो गयी। सारा शहर सड़ती हुई लाशों से भर गया। इससे अनेक रोग फैले। इस दयनीय अवस्था में वैशाली के राजाओं ने राजगृह से भगवान बुद्ध को अपने यहां आमंत्रित किया। सौभाग्य से वैशाली में उनके पांव रखते ही सारी विपदाएं विनष्ट हो गयीं। दुर्भिक्ष सुभिक्ष में वदल गया, नगर रोग-मुक्त हो गया। अन्य उपद्रव भी दूर हो गये। लोगों ने राहत की सांस ली। इस घटना से वैशाली में भगवान बुद्ध को बहुत

प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उनके प्रति अनेक लोग श्रद्धालु हुए। बहुतेरों ने उनकी शरण ग्रहण की। दिन-पर-दिन लोग उनकी कल्याणी शिक्षा की ओर मुड़ने लगे। अतः यही अनुमान करना उचित है कि विमल कौंडण्य प्रभूत पारमी का धनी होने के कारण युवावस्था में प्रवेश करने पर स्वतः भगवान की ओर आकर्षित हुआ, उनके उपदेशों से प्रभावित हो अपनी वात्सल्यमयी माता अंबपाली को छोड़ कर घर से बेघर हो, सिर मुँडवा कर भगवान के पास प्रव्रजित हो गया।

भगवान ने उसे उसके अनुकूल विपश्यना साधना सिखायी जिसका अभ्यास करते हुए अचिर काल में ही वह अरहंत हो गया। अरहंत होने पर उसने अपने हर्ष-भरे उद्गार अनेकार्थी श्लेष-भाषा में अभिव्यक्त किये –

दुम्हो ञाय उप्पन्नो।

– द्रुम याने वृक्ष के नाम पर आख्यात याने अंबपाली के कोख से उत्पन्न। द्रुम की अनेक जड़ें और अनेक शाखाएं होती हैं, अंबपाली के भी अनेक पति और अनेक पुत्र हुए। इस अर्थ में भी यह श्लेष शब्द प्रयुक्त हुआ।

जातो पण्डर केतुना।

– श्वेत छत्र का पुत्र याने महाराज बिंबिसार का पुत्र। उन दिनों के भारत में राजा-महाराजा श्वेत छत्र धारण करते थे जो कि समय बीतते-बीतते सुनहरी जरियों से मण्डित लाल रंग का छत्र हो गया। परंतु पड़ोसी ब्रह्म देश में भारत की पुरातन परंपरा अभी भी चली आ रही है। झालरदार श्वेत छत्र आज भी वहां राज्य शासक का प्रतीक है।

केतुहा – याने *अहंकाररूपी केतु को नष्ट करने वाले,*

केतुनायेव – याने *इस केतु द्वारा* याने मार से युद्ध कर सकने वाली प्रज्ञा द्वारा, इस धर्म-ध्वजा द्वारा जिसे **धम्मोहि इसीनं धजा** कहा गया याने *ऋषियों की ध्वजा धर्म ही है,* ऐसी धर्म-ध्वजा द्वारा –

महाकेतुपधंसयि।

– पाप की महान ध्वजा धारण किये हुए पापी मार को परास्त किया याने अरहंत अवस्था प्राप्त की।

जैसे किसी कीचड़-भरे, गंदे तालाब में सुंदर, सुरभित कमल उग आये वैसे ही एक गर्हित जीवन जीने वाली गणिका के कोख से यह भावी अरहंत उत्पन्न हुआ। अंबपाली की कोख धन्य हुई, बिंबिसार का पितृत्व धन्य हुआ! धन्य हुआ दोनों के संयोग से उत्पन्न विमल कौंडण्य! धन्य हुई भगवान बुद्ध की धर्म-देशना!

ऐसी धन्यता सब को प्राप्त हो!

नगरशोभिनी धर्मशोभिनी बनी

मगधेश बिंबिसार की एक रात की भाड़े की भार्या जनपदकल्याणी अंबपाली का भी भाग्योदय हुआ। वह भी भगवान के संपर्क में आयी। इसकी संभावना कम है कि बिंबिसार ने उसे प्रत्यक्ष प्रभावित किया हो या किसी संदेशवाहक के जरिये प्रभावित करवाया हो। परंतु अंबपाली को लोगों द्वारा यह सूचना तो मिली ही होगी कि उसके पुत्र विमल कौंडन्य का पिता राजा बिंबिसार अब भगवान बुद्ध का अनन्य भक्त हो गया है। हो सकता है उसी ने अपने पुत्र को अपने पिता के पद-चिन्हों पर चलते हुए भगवान का सश्रद्ध अनुयायी बनने के लिए प्रोत्साहित किया हो। भिक्षु होने पर उसकी मूर्धन्य आध्यात्मिक उपलब्धि देख कर स्वयं भी भगवान की ओर आकर्षित हुई हो और गणिका के जघन्य पेशे को घृणास्पद मानने लगी हो। कारण जो भी रहा हो, लोगों को कामपंक में डुबाये रखने वाली अंबपाली प्रौढ़ावस्था तक पहुँचते-पहुँचते भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु हो चुकी थी। अपने जीवन के अंतिम वर्ष में भगवान पश्चिम की ओर विहार करने के लिए राजगृह से वैशाली पहुँचे। तब तक वैशाली में शासकों के अतिरिक्त अनेक धनी-मानी लोग भगवान के अनुयायी बन चुके थे, परंतु उनके दर्शन के लिए सबसे पहले अंबपाली ही पहुँची क्योंकि भगवान अंबपाली के आम्रकुंज में रुके थे। उसने अगले दिन के भोजन के लिए भगवान को आमंत्रित किया। भगवान ने मौन रह कर उसे स्वीकार किया। वैशाली में आगमन पर प्रथम दिवस के भोजन-दान का बड़ा महत्त्व था। अनेक प्रतिष्ठित लोग इस पुण्य को हासिल किया चाहते थे परंतु वैशाली की गणिका के भाग्य में ही यह पुण्य बदा था।

वह अपने भाग्य पर इतराती हुई, अपने अश्वयान पर आसीन हो, प्रसन्नमन घर लौट रही थी। सामने से लिच्छवी राजकुमारों का एक समूह अपने-अपने रथों पर सवार हो, इसी ओर बढ़ा चला आ रहा था। उनमें से कुछ एक ने नीले वस्त्र पहन रखे थे। नीले ही अलंकार और नीले रंग के रथों पर सवार थे। कुछ एक पीतवर्णीय वस्त्र-अलंकार पहने, पीतवर्णीय रथ पर सवार थे। कुछ एक रक्तवर्णीय वस्त्र-अलंकार पहने रक्तवर्णीय रथ पर सवार थे और कुछ एक श्वेतवर्णीय वस्त्र पहन कर, श्वेत आभूषणों से अलंकृत हो, श्वेतवर्णीय रथों पर सवार थे। उनकी छटा अद्भुत थी, भव्य थी, दर्शनीय थी। देव-मंडली-सा सुशोभित लिच्छवी राजकुमारों का यह दल भगवान के दर्शनार्थ ही

जा रहा था। साधारणतया राजपरिवार या राजपुरुषों का रथ सड़क पर सामने से आ रहा हो तो प्रजा के लोग अपने रथों को सड़क से नीचे उतार लेते थे ताकि वे बिना बाधा के मुख्य सड़क पर अपना रथ हांक सकें। परंतु अंबपाली आज हर्ष से फूली नहीं समा रही थी, उसने राजकुमारों के लिए रास्ता नहीं छोड़ा। परिणाम यह हुआ कि राजकुमारों के रथों के पहियों से उसके रथ के पहिये टकराये, धुरी से धुरी टकराई, जूए से जूए टकराये। राजकुमार विस्मित थे, गणिका अंबपाली को आज यह क्या हो गया है ? उन्होंने पूछ लिया, वह इस प्रकार अमर्यादित रथ क्यों चला रही है ? अंबपाली ने उत्तर दिया कि तुम्हें नहीं मालूम भगवान ने मेरे यहां कल का भोजन स्वीकार कर लिया है। भगवान उस गणिका का भोजन स्वीकार करेंगे, इसका विश्वास न राजकुमारों को था और न स्वयं अंबपाली को। इसीलिए वह अपनी विजय पर हर्षोत्फुल्ल हो उठी थी। राजकुमारों को विस्मय के साथ-साथ दुःख भी हुआ, क्योंकि वह भी कल के भोजन-दान के लिए ही भगवान को आमंत्रित करने जा रहे थे। उन्होंने यह महसूस किया कि अब वे हार गये, अंबपाली बाजी मार ले गयी। भगवान जिसका आमंत्रण स्वीकार कर लेते थे, उसे छोड़ कर किसी अन्य के यहां भोजनार्थ नहीं जाते थे। भगवान का यह नियम सर्वविदित था। अतः उन्होंने अंबपाली को प्रलोभन दिया, कल के भोजन-दान के बदले वह एक लाख मुद्रा ले ले। हम नहीं जानते, यह एक लाख रजत-मुद्रा का दांव था या स्वर्ण-मुद्रा का। परंतु जो भी हो, एक रात के देह विक्रय के लिए पचास मुद्रा पाने वाली गणिका के लिए यह बहुत बड़ी रकम थी। अंबपाली के लिए जनपदकल्याणी होने के कारण पचास मुद्राएं भी काफी कीमती रही होंगी। पर अब तो एक लाख मुद्रा की पेशकश थी। बड़ा आकर्षण था। परंतु नगरगणिका ने भगवान के भोजन-दान के पुण्य के मुकाबले इस धन को तुच्छ समझा। इस प्रलोभन का तिरस्कार करते हुए बोली – ''राजकुमारों ! यदि समस्त लिच्छवी जनपद भी मुझे दे दो तो भी कल का भोजन-दान मैं तुम्हें देने वाली नहीं हूं।'' लिच्छवी-कुमार परास्त हो हतप्रभ हुए। अंबपाली अपनी विजय पर फूली हुई घर लौटी।

दूसरे दिन भगवान तथा भिक्षुसंघ को अत्यंत श्रद्धा पूर्वक भोजन-दान दे कर जहां भगवान ठहरे, अपने उस आम्रवन को भी बुद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ को दान दे दिया और महती पुण्यशालिनी हुई।

कुछ समय बाद वह अपने अरहंत हुए पुत्र विमल कौंडन्य के जरिये विपश्यना के प्रति अत्यंत आकर्षित हुई। उसने प्रव्रज्या ग्रहण की और अपना घृणित जीवन छोड़ कर त्यागमयी तपस्विनी का जीवन जीने लगी। पूर्व-पारमिताओं ने उसे बल प्रदान किया।

वह कल्पों पूर्व भगवान पुष्य महामुनि के जीवनकाल में उनकी भगिनी थी। बृहद् दान दे कर उसने धर्म-संकल्प किया था कि इस दान के फलस्वरूप भविष्य में उसे अत्यंत सुंदर शरीर मिले। इसी पुण्य के फलस्वरूप वह अत्यंत रूपवती हुई। परंतु इकत्तीस कल्पों पूर्व भगवान शिखी के जीवनकाल में उसने भिक्षुणी संघ की किसी साध्वी को कुपित हो अपशब्द कहे – "तू वेश्या है, अनाचारिणी है, जिन-शासन-दूषिका है।" इस मिथ्या दोषारोपण भरे प्रलाप के कारण खूबसूरत होते हुए भी उसे स्वयं वेश्या का जीवन जीना पड़ा, दुराचारिणी का जीवन जीना पड़ा। परंतु साथ-साथ उसकी अनेक जन्मों की पुण्य पारमी होने के कारण भिक्षुणी अंबपाली ने विपश्यना करते हुए अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। तब तक वह अत्यंत वृद्धा हो चुकी थी। अरहंत होने पर जिस प्रसन्न चित्त से उसने धर्म के उद्गार प्रकट किये, वह अनित्य परिवर्तनशील शरीर की यथाभूत अभिव्यंजना है, अनुपम अभिव्यक्ति है।

वह अत्यंत रूपवती ही नहीं थी, रूपगर्विता भी थी। वह रूप आजीवा होने के कारण स्वभावतः अपने शरीर को शृंगार प्रसाधनों से एवं वस्त्र-आभूषणों से खूब सजा-धजा कर रखती थी। भगवान ने अपने उपदेशों में उसे शरीर के सौंदर्य की नश्वरता, भंगुरता और परिवर्तनशीलता का उपदेश दिया था – **सब्बं रूपं अनिच्चं जराभिभूतं**।

इस वृद्धावस्था में वही सत्य प्रकट हुआ। परंतु अब उसे इसका कोई क्षोभ नहीं था, क्योंकि शरीर के प्रति उसकी आसक्ति पूर्णतया टूट चुकी थी। केवल तथ्यों की अभिव्यंजना थी ताकि औरों को इस सच्चाई से ज्ञान मिले। शरीर-सौंदर्य के प्रति उनकी मिथ्या आसक्ति टूटे। उसने कहा –

[१] भौरे के रंग सदृश मेरे काले केश थे। मूल से ले कर अग्र भाग तक सारे बाल घुँघराले थे। वही आज जरा-जीर्ण अवस्था में सन से सफेद हो गये हैं। सत्यवादी भगवान के वचन कभी झूठे नहीं होते।

[२] चंपक, मल्लिका, जूही आदि पुष्पों से पूरी तरह गूंथा हुआ मेरा केश-कलाप सुगंधि की पिटारी सदृश सदा सुवासित, सुरभित रहता था। अब भेड़ के दुर्गंधयुक्त बालों की तरह दुर्गंधित, दुर्वासित हो गया है। सत्यवादी भगवान के वचन कभी झूठे नहीं होते।

[३] सोने की कंघी और क्लिपों से सजा-सँवरा मेरा केश-विन्यासमय जूड़ा घने उगे उपवन सदृश सुशोभित रहता था। वही अब स्थान-स्थान के बाल टूट गिरने के कारण विरल केश हो, कैसा बदसूरत हो गया है। सत्यवादी भगवान के वचन कभी झूठे नहीं होते।

[४] कभी मेरे सिर का जूड़ा बहुमूल्य हीरों जड़ी सोने की लड़ियों से अलंकृत रहता था। भीनी-भीनी गंधों से महकती हुई चोटियों से गुँथा रहता था। वही अब जरावस्था में बालों के झड़ जाने से बदरूप और गंदा हो गया है। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[५] कुशल चित्रकार के हाथों अत्यंत कलात्मक रूप से अंकित की गयी मेरी दोनों सुंदर भौंहें थीं। उनकी शोभा अनुपम होती थी। अब जरा अवस्था ने उनमें झुर्रियां पैदा कर दी। खींची हुई भौंहें अब अवनत हो गयीं, झुक गयीं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[६] कभी मेरे नेत्र विशाल थे, उज्जवल थे। उनकी दोनों पुतलियां नील मणियों सदृश ज्योतिर्मय थी। अब वृद्धावस्था ने उन्हें अभिहत बना दियां, प्रभाहीन बना दिया, कुरूप बना दिया। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[७] नवयौवनकाल में सुंदर शिखर सदृश ऊंची उठी हुई मेरी कोमल, सुदीर्घ नासिका को अब जरा अवस्था ने सिकुड़ा दिया है, पिचका दिया है। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[८] कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित कलापूर्ण कंकण के समान कभी मेरी कर्ण-रेखाएं थीं। वही अब जरा अवस्था में झुर्रियां पड़ कर नीचे की ओर लटक गयी हैं और सौंदर्यहीन हो गयी हैं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[९] कभी मेरी दंतावली सुंदर कदली-कलियों के समान सुशोभित थी। अब वही दांत जरा अवस्था में खंडित हो गये हैं और पीले पड़ गये हैं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१०] वन-विहारिणी कोकिला की मधुर कूक सदृश कभी मेरी मीठी, रसीली वाणी थी। अब जरावस्था में वह स्खलित हो गयी, भर्राई हुई हो गयी। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[११] खरादे हुए चिकने शंख के समान सुशोभित कभी मेरी ग्रीवा थी। अब जरावस्था में वह भग्न सी है, झुकी हुई है। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१२] सुंदर गदा के समान गोलाकार कभी मेरी दोनों बाहें थी। वही अब जरावस्था में पांडर वृक्ष की सूखी शाखाओं सदृश दुर्बल हो गयी हैं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१३] पहले मेरे हाथों की सुकोमल अँगुलियां सुंदर अँगूठियों और स्वर्णालंकारों से विभूषित रहती थीं। वही अब वृद्धावस्था में सूख कर

गांठ-गठीली हो गयी हैं, दुर्बल हो गयी हैं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१४] मेरे वक्षस्थल पर कभी दोनों सुंदर, सुडौल और सुगोल स्तन सुशोभित होते थे। अब वृद्धावस्था में वही पानी की रीती लटकी थैलियों जैसे हो गये हैं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१५] कभी मेरा सारा शरीर सुंदर, शुद्ध तपे हुए सोने के पासे जैसा चमकता था। वही अब जरावस्था में नन्हीं-नन्हीं झुर्रियों से भर कर मुर्झा गया है। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१६] कभी मेरी दोनों जांघें हाथी की सूंड के समान सुघड़, सुंदर थीं, सुशोभित थीं। वही अब जरावस्था में पोपले बांस क़ी नलियों जैसी खोखली हो गयी हैं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१७] कभी मेरे सुकोमल पांव नूपुर और स्वर्णालंकारों से सुशोभित रहते थे। वही अब जरावस्था में सूखे डंठल के समान भद्दे हो गये हैं। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१८] कभी मेरी दोनों कोमल पगथलियां रूई के पहल के समान हल्की थी, सुशोभन थी। अब जरावस्था ने उन्हें सुखा कर, पिचका कर, झुर्रियों से भर कर बेडोल बना दिया है। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

[१९] मेरा यह शरीर कभी सुख का आगार था, खुशियों का भंडार था, काम-क्रीडा का केंद्र था। अब जरावस्था में यह जर्जरित हो गया है, अनेक दुःखों का आलय हो गया है। ऐसे जरा-जीर्ण मकान के समान हो गया है जिसकी लिपाई-पुताई टूट-टूट कर गिर चुकी है। बिना मरम्मत के जिस प्रकार पुराना घर ढह जाता है, वैसे ही यह जरावस्था का शरीर बिना सेवा के शीघ्र ही पतन को प्राप्त होगा, नष्ट हो जायगा, मात्र कंकाल का खंडहर रह जायगा। सचमुच सत्यवादी भगवान के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

कितने यथार्थ हैं अरहंत अंबपाली के ये शब्द! कितनी सही है जीवन-जगत की जरा-धर्मा, अनित्य-धर्मा, विपरिणाम-धर्मा सच्चाइयों की यह सुमांगलिक अभिव्यक्ति!!

यह उद्गार अनेकों के कल्याण के लिए पथ-प्रदर्शक बनें।

८. पुरुषार्थी कौमारभृत्य

भारत के जनपदों में गणिकाओं की परंपरा तो पुरानी रही होगी, परंतु राज्य द्वारा किसी को सर्वश्रेष्ठ सुंदरी घोषित कर जनपदकल्याणी के पद पर आसीन करना और राज्य की ओर से उसका एक रात का मूल्य निर्धारित किया जाना, यह लगता है २५०० वर्ष पूर्व के भारत की अपनी विशेषता थी। अनेक जनपदों में जनपदकल्याणी का पद जनपदों के लिए शोभनीय माना जाता था, गर्व का विषय माना जाता था।

राजगृह का निगमपति जब पहली बार पड़ोसी देश की वैभवशाली राजधानी वैशाली हो आया तो उसे वहां की दो बातों ने बहुत आकर्षित किया। एक तो वहां के ७,७७० राजाओं के ७,७७० राजमहल, उतने ही कोष्ठागार, उद्यान और पुष्करणियां। इन सब ने वैशाली के भौतिक वैभव को आसमान पर चढ़ा दिया था। दूसरी परम सुंदरी जनपदकल्याणी अंबपाली, जिसके कारण वैशाली अपने विलास वैभव के लिए प्रसिद्ध हो गयी थी।

बिंबिसार ने जब यह सारा ब्यौरा सुना तो उसे पहले क्षेत्र में प्रतिद्वंद्विता असंभव लगी, क्योंकि राजगृह में एकतंत्री शासन था। अतः एक ही राजा था। वह अपने लिए और अपने परिवार के लिए आखिर कितने महल बनवा सकता था ? जबकि वैशाली जनतांत्रिक थी, वहां ७,७७० राजा थे। राज्य संपदा ७,७७० राजाओं में बँटी हुई थी। एक-एक का एक-एक निवास स्थान हो तो इतने सारे महल, इतने ही कोष्ठागार, उद्यान, पुष्करणियां होनी स्वाभाविक थीं। ऐसा राजगृह में होना असंभव था। परंतु जनपदकल्याणी स्थापित की जा सकती थी। इस क्षेत्र में वह वैशाली से प्रतिद्वंद्विता कर सकता था।

उसने निगमपति को आदेश दिया कि मगध की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी कुमारी का चुनाव करे और नगर-गणिका बना कर उसका मूल्य वैशाली से दुगुना निश्चित कर दे। यही किया गया। शालवती नाम की एक कुमारी को चुना गया जो अंबपाली जैसी ही अनिंद्य सुंदरी थी। उसे नृत्य, वाद्य, गायन में प्रवीण करके नगरवधू घोषित किया गया। वैशाली राज्य ने अंबपाली की एक रात की कीमत पचास मुद्राएं निश्चित कर रखी थी। मगध नरेश ने शालवती की एक रात की कीमत एक सौ मुद्राएं निश्चित की।

धीरे-धीरे नगरवधू के रूप में शालवती की प्रसिद्धि फैलने लगी। कुछ समय पश्चात शालवती को गर्भ रह गया। वह चिंतित हुई। पुरुष लोग गर्भिणी से सहवास नहीं करना चाहते। अतः उसने अपनी द्वारपालिका को समझाया कि उसके लिए द्वार पर कोई आये तो कह दे कि शालवती बीमार है। यों बीमारी का बहाना बना कर उसने गर्भावस्था का समय बिताया। समय बीतने पर उसने एक पुत्र प्रजनन किया। अब उसे चिंता हुई कि संतान वाली नारी को भी पुरुष कम चाहते हैं। अतः हृदय को कठोर करके अपने पुत्र के परित्याग का निर्णय किया। उसने धाय को आदेश दिया कि नवजात शिशु को कचरे की टोकरी में रख कर बाहर गली के नुक्कड़ पर कूड़े के ढेर के पास रख आये। धाय ने ऐसा ही किया।

प्रातःकाल अभय राजकुमार महाराज बिंबिसार की सेवा में जाने के लिए उस ओर से निकला। उसने देखा, कूड़े के ढेर पर बहुत से कौवे मँडरा रहे हैं और किसी शिशु के रोने की आवाज आ रही है। उसने अपने सेवक को जांचने के लिए भेजा तो परित्यक्त बालक प्रकाश में आया। कौवों के आक्रमण के बावजूद भी वह जीवित है, यह देख कर अभय राजकुमार ने उसका नाम **जीवक** रखा और उसके यथोचित पालन-पोषण के लिए उसे अपने महलों में भेज दिया। उसने जीवक को बड़े प्यार से पाला। इसलिए कुमार का पौष्य पुत्र होने के कारण उसका एक नाम और पड़ा– **कौमारभृत्य**।

बड़ा होने पर जीवक ने जानना चाहा कि उसके माता-पिता कौन हैं। अभय ने कहा कि मैं तुम्हारा पिता हूं, परंतु माता कौन है, मैं नहीं जानता। एक मान्यता यह भी है कि वह शालवती की कोख से उत्पन्न हुआ अभय का ही पुत्र था। अभय जीवक को गणिका का पुत्र घोषित नहीं किया चाहता था। अतः उसने मां का नाम छिपाया। अथवा यह भी हो सकता है कि अभय को उसकी माता कौन है, इसका ज्ञान सचमुच न रहा हो। जो भी हो, वह अभय राजकुमार का वास्तविक पुत्र न भी हो, उसका पौष्य पुत्र तो था ही। अतः महाराज बिंबिसार का भी पौष्य पौत्र हुआ।

जीवक बड़ा हुआ तो उसने देखा कि राजा के संपर्क में जो लोग हैं, वे किसी न किसी विद्या में निपुण हैं। गुणहीन व्यक्ति की वहां कोई कदर नहीं है। अतः उसने कोई शिल्प सीखने का निर्णय किया। उन दिनों तक्षशिला का विश्वविद्यालय बहुत प्रसिद्ध था। वहां अनेक प्रकार के शिल्प सिखाये जाते थे। अतः वह अभय राजकुमार को बिना कुछ कहे तक्षशिला की ओर चल पड़ा। वहां पहुँच कर वह आयुर्वेद विषय के दिशा-प्रमुख

आचार्य से मिला। आचार्य ने देखा कि युवक मेधावी है। उसे चिकित्सा-शास्त्र सीखने की अनुमति मिल गयी।

जीवक मेधावी भी था और परिश्रमी भी। सात वर्ष तक निष्ठापूर्वक चिकित्सा-शास्त्र की विद्या पढ़ता रहा और साथ-साथ उसका व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करता रहा। सात वर्ष पश्चात वह अधीर हो उठा। उसने आचार्य से कहा कि इस विद्या का तो अंत ही नहीं दीख रहा है। आचार्य ने उसकी योग्यता जांचने के लिए कहा कि वह फावड़ा ले कर आस-पास की एक योजन भूमि की जांच कर आये जहां कोई अभैषज याने बिना औषधि के गुण वाला पौधा मिले, उसे उखाड़ लाये। जीवक चल दिया, उसने बतायी हुई सीमा की धरती जांच कर देखी। वह खाली हाथ लौट आया और बोला कि उसे बिना औषधि का एक भी पौधा नहीं मिला। सभी पेड़ पौधों में किसी न किसी औषधि के गुण विद्यमान हैं। आचार्य इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुआ। यह जीवक की परीक्षा थी। वह इस परीक्षा में सफल हुआ। शिष्य की परिपक्व योग्यता देख कर आचार्य संतुष्ट हुआ। उसने कहा– अब तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई। घर लौट सकते हो। जो सीखा है उससे अपनी जीविका बखूबी चला सकते हो। आचार्य जानता था, जीवक के पास गुरु-दक्षिणा देने के लिए कुछ नहीं है। अतः उसने प्रसन्न हो कर अपने योग्य शिष्य से कोई दक्षिणा न मांग कर, उल्टे उसके पथ के लिए थोड़ा-सा पाथेय दिया और उसे विदा किया।

जीवक तक्षशिला से मगध की ओर चल पड़ा, परंतु पाथेय बहुत अल्प था। साकेत पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो गया। अभी बहुत लंबा रास्ता तय करना था। अतः उसने निर्णय किया कि वहीं कुछ दिन रुक कर किसी रोगी की चिकित्सा करे और राह-खर्च लायक कुछ धन कमा ले। नगर में रोगी की खोज में निकला तो पता चला कि साकेत के नगरसेठ की भार्या सिर-दर्द के रोग से पीड़ित है। अनेक वैद्यों ने उसकी चिकित्सा की पर कोई सफल न हुआ। जीवक नगरसेठ के द्वार पर गया। उसने द्वारपाल को अपना परिचय दिया और सेठानी की चिकित्सा करने की उत्सुकता दिखायी। द्वारपाल ने भीतर जा कर सेठानी को यह सूचना दी। परंतु द्वारपाल से पूछने पर जब सेठानी ने यह जाना कि आगंतुक वैद्य युवा है तो वह अन्यमनस्क हुई। उसने कहा, सात वर्ष पुराना रोग है। अनेक अनुभवी और वयोवृद्ध वैद्य बहुत-सा धन मेहनताने के रूप में ले कर चले गये पर इलाज करने में कोई सफल नहीं हुआ। यह युवा, अनुभवहीन व्यक्ति क्या चिकित्सा करेगा ? व्यर्थ धन क्यों बरबाद करें ?

द्वारपाल ने जब यही बात जीवक को आ सुनायी तब जीवक ने कहा, मुझे कोई अग्रिम पारिश्रमिक न दें। जब ठीक हो जायें तो ही पारिश्रमिक दें और वह भी जितना चाहें उतना ही दें।

यह सुन कर सेठानी ने जीवक को भीतर बुला लिया। जीवक ने रोग की जांच की और चिकित्सा के लिए पसर भर घी मांगा। उसे घी मिला। उसने घी में कुछ एक औषधियां मिला कर उसे पकाया और सेठानी को चित्त लेटा कर उसके नथुनों में डाल दिया। नाक में डाला गया घी मुँह के रास्ते से निकल पड़ा। सेठानी ने उसे पीकदान में थूका और दासी को हुक्म दिया कि उसे किसी बर्तन में रख ले, काम आयेगा।

जीवक यह देख कर बहुत उदास हुआ। जो सेठानी इस गंदे घी को फिंकवाती नहीं बल्कि बर्तन में रखवाती है, वह कितनी कृपण है। ठीक होने पर मुझे क्या मेहनताना देगी ? इस घी में मेरी कीमती औषधियां पड़ी हैं, उतना पारिश्रमिक पाना भी कठिन दीखता है। सेठानी जीवक के मन के भाव ताड़ गयी। उसने जीवक को समझाया कि वह एक श्रेष्ठि-भार्या है, कुशल गृहिणी है। किफायतगिरी और संयम उसमें कूट-कूट कर भरा होना स्वाभाविक है। किसी भी काम की वस्तु को फेंक नहीं देना चाहिए। यह मैला घी खाने के काम नहीं आयेगा परंतु दास-दासियों के पैर मलने के काम आ सकता है, दीपक जलाने के काम आ सकता है। इसीलिए बर्तन में रखवाया है। तुम चिंता न करो, यदि मैं निरोग हो गयी तो तुम्हारे पारिश्रमिक में कमी नहीं आयेगी।

और वह निरोग हो गयी। सात वर्ष का पुराना रोग जीवक के एक ही बार के उपचार से दूर हो गया। सेठानी बड़ी प्रसन्न हुई। उसने जीवक को चार हजार मुद्राएं दी। मां को रोग-मुक्त देख कर पुत्र बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपनी ओर से जीवक को चार हजार मुद्राएं दी। सास को स्वस्थ हुआ देख कर बहू बहुत प्रसन्न हुई। उसने अपनी ओर से जीवक को चार हजार मुद्राएं भेंट दी। पत्नी को स्वस्थ-प्रसन्न देख कर श्रेष्ठि आल्हादित हुआ। उसने जीवक को चार हजार मुद्राएं ही नहीं दी, एक दास और एक दासी भी दी और यात्रा के लिए अश्व-जुड़ा एक रथ भी प्रदान किया।

इतना सारा धन ले कर जीवक राजगृह लौटा। अपनी शिक्षा की पहली कमाई पिता अभयकुमार को समर्पित करके उसे नमस्कार किया। अभय राजकुमार उसे वापिस आया देख कर अत्यंत प्रसन्न हुआ और उसकी प्रथम कमाई उसी को लौटाते हुए बोला– मेरे महल के अहाते

में ही घर बना कर रहो। जीवक वहीं घर बनवा कर रहने लगा। उस कमाई का कुछ हिस्सा तक्षशिला में अपने आचार्य को भिजवा दिया।

उन दिनों महाराज बिंबिसार को भगंदर का रोग था। धोतियां खून से सन जाती थी। अंतःपुर की मुँहलगी रानियां उपहास करती, इस समय महाराज को ऋतुकाल आया है, महाराज रजस्वला हुए हैं। अब महाराज को फूल उत्पन्न हुआ है, जल्द ही महाराज प्रसव करेंगे, आदि-आदि।

महाराज बिंबिसार बड़ा लज्जित होता। पर क्या करता ? लाचार था। उसने अभय राजकुमार से कहा कि कोई अच्छा वैद्य ढूंढ कर लाए जो उसका उपचार कर सके। अभय राजकुमार ने तरुण जीवक की चिकित्सा कराने का सुझाव दिया। महाराज ने स्वीकृति दी। जीवक ने चिकित्सा की। एक ही लेप द्वारा भगंदर का पुराना रोग ठीक हो गया।

महाराज ने प्रसन्न हो पांच सौ नारियों को नख-शिख तक अलंकृत कर, वह सारे आभूषण-अलंकार उतरवा जीवक को पुरस्कारस्वरूप दे दिये।

जीवक ने कहा– आप मेरे उपकार को स्मरण करें, यही मेरे लिए पर्याप्त है।

इस पर महाराज बिंबिसार ने जीवक से कहा– आज से तुम मेरी और मेरे रनिवास की तथा भगवान बुद्ध और उनके भिक्षुसंघ की सेवा-चिकित्सा करो।

यों बिंबिसार का पौष्य पौत्र जीवक भगवान के संपर्क में आया। उन दिनों का वह प्रसिद्ध भिषक महाभिषक भगवान बुद्ध के संपर्क में आया। भगवान के संपर्क में आया तो शुद्ध धर्म के संपर्क में आया। उसका भाग्योदय हुआ। उसका मंगल सिद्ध हुआ।

जीवक की प्रसिद्धि

बिंबिसार के भगंदर के रोग का ठीक उपचार कर देने के कारण जीवक की बड़ी प्रसिद्धि हुई। विशेषकर रनिवास में और राजदरबार के राजपुरुषों में।

राजगृह का नगरश्रेष्ठि

उन दिनों की परंपरा के अनुसार नगरश्रेष्ठि एक महत्त्वपूर्ण राजपुरुष हुआ करता था। राजगृह के नगर श्रेष्ठि को ऐसा सिरदर्द का रोग हुआ

जिसकी चिकित्सा नामी-गिरामी वैद्य नहीं कर सके थे। स्थिति इतनी बदतर हो गयी थी कि उसका जीवन खतरे में पड़ गया था। किसी वैद्य ने उसके सातवें दिन मरने की भविष्यवाणी की, किसी ने पांचवें दिन। नगर के निगमपति ने बिंबिसार से प्रार्थना की कि वह जीवक को श्रेष्ठि के इलाज के लिए आदेश दे। नगरश्रेष्ठि राजा के लिए और निगम के लिए बहुत उपयोगी था। राजा ने जीवक को इलाज के लिए भेजा। श्रेष्ठि मृत्यु का ग्रास बनने वाला था। उसके बचने की कोई संभावना नहीं थी। अतः उसने जीवक को कहा कि यदि वह उसके प्राण बचा दे तो वह अपनी सारी संपत्ति जीवक को दे कर आजीवन उसका दास बन जायगा।

जीवक ने उसके सिर की शल्य-चिकित्सा की। परंतु इसके पहले उससे वचन ले लिया कि वह छः महीने एक करवट तथा छः महीने दूसरी करवट तथा छः महीने चित्त लेटा रहेगा। जीवक ने उसकी खोपड़ी चीर कर उसमें से रोग के जंतु बाहर निकाले और खोपड़ी बंद कर चमड़े की सिलाई करके उस पर लेप लगाया। उसे एक करवट लेटा दिया। एक सप्ताह में ही श्रेष्ठि करवट बदलने के लिए व्याकुल हो उठा। जीवक ने उसे छः महीने तक एक करवट लेटे रहने का वचन याद दिलाया, परंतु श्रेष्ठि के लिए यह असंभव था। जीवक ने उसे दूसरी करवट लेटाया। दूसरी करवट भी वह छः महीने नहीं लेट सका, अतः सातवें दिन चित्त लेटाया। इस अवस्था में भी वह सात दिन ही लेट सका और तड़फड़ाने लगा तब जीवक ने उसे उठा खड़ा किया। वह भला-चंगा था, निरोगी हो चुका था। जीवक ने कहा– यदि मैं छः महीने का वायदा न करवाता तो तुम सात दिन भी एक अवस्था में नहीं लेट पाते।

श्रेष्ठि ने स्वस्थ हो कर अपना सर्वस्व अर्पित करने का वचन निभाना चाहा। जीवक ने उससे केवल दो लाख मुद्राएं ली, एक लाख अपने लिए और एक लाख महाराज बिंबिसार के लिए।

काशी का श्रेष्ठिपुत्र

अब जीवक की प्रसिद्धि और अधिक फैलने लगी। काशी के नगरसेठ के पुत्र को पेट का रोग हो गया था। वह कुछ नहीं खा सकता था। भात का पानी पीता, वह भी उसे ठीक से नहीं पचता था। मल-मूत्र भी ठीक से नहीं होता था। इस रोग के मारे वह अत्यंत दुर्बल और दुर्वर्ण हो गया था। हड्डी का ढांचा मात्र रह गया था। उसके बचने की कोई आशा न देख कर

उसके पिता ने महाराज बिंबिसार से जीवक की सेवा मांगी। बिंबिसार ने जीवक को चिकित्सा के लिए काशी भेजा। जीवक ने श्रेष्ठिपुत्र के रोग का निदान किया और उदर की शल्य-चिकित्सा की। पेट चीर कर आंतें बाहर निकाली, उनमें पड़ी गांठ को काट कर दूर किया। आंतें सुलझा कर, सी कर उनको पुनः पेट में डाल कर पेट की चमड़ी को सी कर लेप लगा दिया। श्रेष्ठिपुत्र अचिर काल में पूर्ण स्वस्थ हो गया। पिता ने पुत्र को भला-चंगा देख कर संतुष्टि, प्रसन्नता से भर कर राजवैद्य जीवक को सोलह हजार मुद्राएं पारिश्रमिक के रूप में दी।

राजा प्रद्योत

अब जीवक की यश-कीर्ति दिग्-दिगंत में फैलने लगी। दूर-दूर के धनी तथा राजा-महाराजाओं की ओर से उपचारार्थ उसकी मांग आने लगी। उन दिनों अवंति नरेश प्रद्योत को पांडु रोग हो गया था। अनेक नामिक और अनुभवी वैद्य चिकित्सा करने में असफल रहे। आखिरकार प्रद्योत ने महाराजा बिंबिसार को संदेश भेजा कि उसके इलाज के लिए राजवैद्य जीवक को उज्जैन भेजें। महाराज बिंबिसार का उज्जैन-नरेश से अच्छा मैत्री संबंध था। अतः उसने जीवक को उज्जैन जा कर राजा की चिकित्सा करने के लिए आदेश दिया। जीवक उज्जैन पहुँचा। वहां उसने राजा प्रद्योत के शरीर की परीक्षा की और रोग का मूल कारण जान गया। जब वह चिकिस्ता के लिए तैयार हुआ तो प्रद्योत ने कहा, "तुम मुझे चाहे जैसी औषधि देना पर भूल कर भी घी मत पिला देना। मुझे घी से बेहद चिढ़ है, नफरत है।"

जीवक ने समझा कि वह घी से बनी औषधियुक्त रसायन से ही निरोग हो सकता है, और कोई चारा नहीं है। अतः उसने औषधि तैयार की। उसे घी में मिला कर अन्य रसायनों द्वारा घी का रंग, रूप, गंध और स्वाद आदि सब बदल दिये। राजा उस औषधि का सेवन करते हुए यह जरा भी नहीं जान पायेगा कि यह घी है और उसे पी जायगा। परंतु कुछ समय बाद उसे उल्टी होगी, तब वह जान जायगा कि उसे घी ही पिलाया गया है।

जीवक जानता था कि प्रद्योत बड़ा क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति है। इसीलिए चंड प्रद्योत कहलाता है। अतः उसने बचाव का रास्ता पहले से ढूंढ लिया। उसने घी की बनी हुई दवा देने के पहले ही राजा से कहा कि वैद्य होने के नाते अनुकूल नक्षत्र देख कर उसे नगर के बाहर वन-प्रदेश में

जड़ी-बूटियां ढूंढने जाना होता है। अनुकूल नक्षत्र रात-दिन किसी भी समय हो सकता है। अतः उसे इस बात की छूट मिलनी चाहिए कि राज्य की घुड़साल और हस्तिसाल से जिसे पसंद करे, उस घोड़े या हाथी को ले कर बिना रोक-टोक नगर के बाहर आ-जा सके। राजा प्रद्योत ने इस बात की उसे पूरी छूट दी और संबंधित राज्य कर्मचारियों को इस छूट की सूचना दे दी।

जीवक ने औषधि-मिश्रित घी राजा को पिलाया और तत्काल हस्तिशाला से भद्रावती नाम की हथिनी को ले कर नगर के बाहर निकल गया। यह हथिनी तीव्र गति से चलने वाली थी और दिन भर में पचास योजन की यात्रा पूरी कर सकने की क्षमता रखती थी।

राजा प्रद्योत को औषधि लेते हुए यह जरा भी भान नहीं हो सका कि यह घी में पकायी गयी है। परंतु कुछ समय बाद उसे उल्टी हुई तब उसे पता चला कि वैद्य ने उसके साथ दगा किया है। वह आग-बबूला हो उठा। उसने जीवक को पकड़ लाने का हुक्म दिया। तब उसे पता चला कि वह शीघ्रगामिनी भद्रावती हथिनी पर सवार हो कर नगर के बाहर निकल चुका है। राजा का एक सेवक था। नाम था – काक। केवल वही एक ऐसा व्यक्ति था जो शीघ्रगामी था और बिना रुके साठ योजन की यात्रा पूरी कर सकता था। उसे भद्रावती का पीछा करने के लिए भेजा गया और आदेश दिया गया कि किसी भी प्रकार वह जीवक को वापिस लाये। उसे यह भी चेतावनी दी गयी कि वह जीवक के हाथ से भोजन न ग्रहण करे। ये वैद्य बड़े मायावी होते हैं, न जाने क्या खिला दें और अपना स्वार्थ साध लें।

काक भद्रावती का पीछा करता हुआ तीव्रगति से चल पड़ा, परंतु जब उसके समीप पहुँचा तब तक हथिनी अवन्ती की सीमा के बाहर निकल चुकी थी। जीवक से काक की भेंट पड़ोसी राज्य कोशांबी में हुई, जहां वह कुछ देर के लिए विश्राम कर, कलेवा कर रहा था। काक ने जीवक से वापस लौट चलने के लिए कहा, परंतु जीवक ने कहा कि पहले कुछ आहार कर ले। उसने काक को भी भोजन का आमंत्रण दिया, पर काक को राजाज्ञा याद थी। उसने भोजन अस्वीकार किया। जीवक ने भोजनोपरांत एक आंवला खाने को निकाला और काक से कहा, कम से कम आधा आंवला तो खा कर देखे। काक ने सोचा कि जब जीवक स्वयं खा रहा है और उसी आंवले का आधा भाग उसे खाने को दे रहा है तो खाने में क्या दोष ? इसमें कोई धोखा नहीं हो सकता। काक ने स्वीकार किया। जीवक ने बड़ी कुशलतापूर्वक आधा आंवला काक को देते हुए अपने नाखून में रखी औषधि उसमें गड़ा

दी। आंवला खाते ही काक अत्यंत अस्वस्थ हो गया। उसने जीवक से कहा – आचार्य! अभी मैं और जीना चाहता हूं।

जीवक ने उत्तर दिया कि तुम चिंता न करो। तुम भी शीघ्र स्वस्थ हो जाओगे और तुम्हारा राजा प्रद्योत भी। वह चंड स्वभाव का व्यक्ति है। उसे घी मिली औषधि खिलाने से कुपित होगा और कुपित हो कर मुझे मरवा भी सकता था, इसीलिए मैं निकल आया।

यह कह कर जीवक ने भद्रावती हथिनी काक के हवाले कर राजगृह की यात्रा पर चल पड़ा। घर पहुँच कर सारा वृत्तांत राजा बिंबिसार को कह सुनाया। बिंबिसार ने जीवक की बुद्धिमानी की प्रशंसा की।

इस बीच राजा प्रद्योत जीवक की दवा की एक ही खुराक के कारण अपने पुराने पांडु रोग से पूर्णतया मुक्त हो गया, अतः प्रसन्न हो कर जीवक को इनाम देने के लिए आमंत्रित किया, पर जीवक नहीं गया। उसने कहला भेजा कि राजा केवल मेरे उपकार को याद रखें, यही पर्याप्त है।

आखिर राजा प्रद्योत ने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए जीवक को एक बहुमूल्य दुशाला भेजा। जीवक ने सोचा कि ऐसा दुशाला तो बिंबिसार या स्वयं भगवान बुद्ध के प्रयोग करने के अनुकूल है। वह उसे भगवान बुद्ध को अर्पित किया चाहता था। भगवान उन दिनों अपने भिक्षु-संघ सहित पुराने पांसुकूल चीवर पहनते थे। जीवक जानता था कि वे नया दुशाला नहीं लेंगे, अतः वह योग्य अवसर की प्रतीक्षा करता रहा।

भगवान बुद्ध को दुशाला

इस बीच भगवान को कब्जियत की शिकायत हुई। छः वर्ष की दुश्कर तपश्चर्या के कारण उन्हें कभी-कभी उदर रोग हो जाया करता था। भगवान ने आनंद के जरिये जीवक को सूचना भेजी। जीवक ने आ कर भगवान का रोग समझा। भगवान ने विरेचन के लिए कोई जुलाब चाही। जीवक ने सोचा भगवान को सामान्य जुलाब नहीं दी जानी चाहिए। उसने तीन कमलनाल को उचित औषधियों से भावित किया। आनंद से कहा कि भगवान के शरीर को स्निग्ध करे। आनंद ने ऐसा ही किया। वैद्यराज जीवक ने कमलनाल से बनी औषधि भगवान को दी और उनसे प्रार्थना की कि वह उसे तीन बार सूंघें। दवा सूंघने पर भगवान को तीस बार जुलाब होगा और वह इस कब्जियत के रोग से मुक्त हो जायेंगे। भगवान से औषधि सूंघी, उन्हें उन्तीस बार जुलाब हुआ। जीवक ने चिंतन किया और कहा कि अब

आप गर्म पानी से स्नान कर लें। स्नान के पश्चात उन्हें तीसवां जुलाब होगा और वे पूर्णतया स्वस्थ हो जायेंगे और यही हुआ। भगवान को जुलाब हो जाने के बाद जीवक ने उन्हें कुछ दिनों तक केवल रसाहार पर रखा।

जब भगवान पूर्णतया स्वस्थ हो गये तो एक दिन जीवक राजा प्रद्योत से प्राप्त हुआ दुशाला साथ ले कर भगवान के पास गया और नमन कर बोला– भंते भगवान, मैं एक वरदान चाहता हूं?

– "तथागत वरदान के परे हो गये हैं।" भगवान ने इसका उत्तर दिया।

– "भगवान यह वरदान उपयुक्त है, निर्दोष है", जीवक ने कहा।

– "तो कहो, जीवक!" भगवान ने कहा।

इस पर जीवक ने कहा कि भगवान यह दुशाला मुझे राजा प्रद्योत ने भेजा है। आप इसे स्वीकार करें और आज से भिक्षुसंघ को भी छूट दें कि यदि वह चाहें तो फटे-पुराने पांसुकूल चीवर पहनें, अथवा किसी सद्गृहस्थ द्वारा दान दिये जाने पर नये सिले चीवर भी ग्रहण करें। भगवान! इससे सद्गृहस्थों को विपुल पुण्य-लाभ होगा और मुझे भी।

भगवान ने मुस्करा कर अनुमति दी। जीवक भगवान को दुशाले का दान दे कर धन्य हुआ। अन्यान्य गृहस्थ नये सिले चीवर दान दे कर धन्य हुए। सब का मंगल हुआ।

९. राजकुमारी चुंदी के प्रश्न

महाराज बिंबिसार की संतानों में से अन्य दो के नाम हमारे सामने उभर कर आये हैं। एक है राजकुमार चुंद और दूसरी उसकी बहन राजकुमारी चुंदी। अपने पिता के कारण ही राजकुमार चुंद भगवान की ओर झुका होगा। उसने भगवान से सुना कि जो व्यक्ति बुद्ध धर्म और संघ के प्रति श्रद्धालु होता है और पंचशीलों का पालन करता है उसकी सद्गति निश्चित है।

राजकुमार चुंद ने अपनी बहन राजकुमारी चुंदी को भगवान का यह वक्तव्य कह सुनाया। पहली बार सुनने से किसी के मन में यह भाव जाग सकता है कि यह तो सांप्रदायिक वक्तव्य हुआ। भला बुद्ध धर्म और संघ के प्रति श्रद्धा रखने से क्यों सद्गति हो, अन्यों के प्रति रखने से क्यों नहीं हो? हम नहीं जानते कि राजकुमारी चुंदी के मन में भी इसी प्रकार का प्रश्न कुलबुलाया था या नहीं? परंतु इतना स्पष्ट है कि वह इस वक्तव्य का स्पष्टीकरण पाने के लिए भगवान के पास गयी।

भगवान उन दिनों राजगृह में वेणुवन के कलंदकनिवाप में विहार कर रहे थे। यह वही वेणुवन है जिसे बिंबिसार ने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु संघ को विहार के लिए दान दिया था। यहां गिलहरियों की बहुतायत थी और उन्हें जीवनदान मिला हुआ था। अतः इस विहार का नाम कलंदकनिवाप पड़ा। राजकुमारी चुंदी भगवान से मिलने अकेली नहीं गयी। वह नगर की पांच सौ हमउम्र सहेलियों को राजरथों पर सवार कराकर अपने साथ ले गयी। संभवतः यह उन दिनों के सम्मान प्रदर्शन का एक तरीका था। बुद्ध के प्रति इस प्रकार का सम्मान प्रदर्शन हम बुद्धवाणी में अन्यत्र भी देखते हैं।

राजकुमारी चुंदी भगवान के पास पहुँच कर, उन्हें नमन कर एक ओर बैठ गयी। तब उसने भगवान से कहा– भंते भगवान! मैंने अपने भाई चुंद राजकुमार से सुना है कि कोई भी नारी या नर बुद्ध की शरण, धर्म की शरण और संघ की शरण ग्रहण करता है और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ तथा मादक पदार्थों के सेवन से विरत रहता है तो वह शरीर छूटने पर सुगति-लाभी होता है, दुर्गति-लाभी नहीं।

बुद्ध, धर्म और संघ की शरण का अर्थ होता है उनके प्रति श्रद्धालु होना। इसीलिए वह आगे पूछती है– कोई व्यक्ति शास्ता के प्रति श्रद्धालु होने से धर्म के प्रति श्रद्धालु होने से, संघ के प्रति श्रद्धालु होने से शरीर छूटने पर सुगति को ही क्यों प्राप्त होता है, दुर्गति को क्यों नहीं ? शीलों का परिपूर्णरूपेन पालन करने से शरीर छूटने पर सुगति को ही क्यों प्राप्त होता है, दुर्गति को क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने जो स्पष्टीकरण दिया, वह सभी साधकों के लिए प्रबल प्रेरणा प्रदायक है।

उन्होंने समझाया कि तथागत सम्यक संबुद्ध सभी प्राणियों में श्रेष्ठ होते हैं। सम्यक संबुद्ध कोई भी हो। जो भी सम्यक संबुद्ध होगा वह श्रेष्ठतम याने अग्र ही होगा। अतः जो सम्यक संबुद्ध के प्रति श्रद्धालु है, वह अग्र के प्रति श्रद्धालु है। अग्र के प्रति श्रद्धालु होने का फल भी अग्र याने सर्वश्रेष्ठ ही मिलता है। वस्तुतः सम्यक संबुद्ध के प्रति श्रद्धालु होने का अर्थ हुआ उनके बताये मार्ग पर चलना। उनका बताया मार्ग श्रेष्ठतम मुक्ति का मार्ग है। अतः उस पर चलते हुए श्रेष्ठतम फल प्राप्त करना स्वाभाविक है।

फिर धर्म के बारे में समझाते हुए बताया कि ऐंद्रिय जगत की सच्चाइयों का धर्म हो या इंद्रियातीत सच्चाई का, इन सब में वीतरागता ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः अग्र है। वीतरागता व्यक्ति के अहंकार भरे मन का मर्दन करती है, सारी आसक्तियों का उत्खनन करती है, सारी प्यास बुझाती है, भव-चक्र का मूलोच्छेद करती है, तृष्णा का क्षय करती है, उसके प्रति विराग पैदा करती है और निरोध की अवस्था तक पहुँचाती है जिससे निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी वीतरागता के धर्म पर जिसकी श्रद्धा है उसकी सर्वश्रेष्ठ पर याने अग्र पर श्रद्धा है। अग्र के प्रति जो श्रद्धालु होता है उसे अग्र फल की ही उपलब्धि होती है।

जितने संघ या गण हैं उनमें तथागत का श्रावक संघ सबसे श्रेष्ठ याने अग्र कहलाता है। तथागत का श्रावक संघ वही है जो स्रोतापन्न है, अथवा सगदागामी है, अथवा अनागामी है, अथवा अरहंत है। जो इन चारों आर्यों में से एक भी नहीं है वह भगवान का श्रावक संघ नहीं है। आर्य है इसीलिए आह्वान करने योग्य है, आतिथ्य करने योग्य है, आदर करने योग्य है, हाथ जोड़ कर नमस्कार करने योग्य है। क्योंकि वह दानियों के लिए सर्वश्रेष्ठ पुण्य क्षेत्र है। जो ऐसे संघ के प्रति श्रद्धालु होता है वह सर्वश्रेष्ठ याने अग्र के प्रति श्रद्धालु होता है। जो अग्र के प्रति श्रद्धालु होता है उसे अग्र फल की ही उपलब्धि होती है।

जितने शील हैं उनमें आर्य शील ही अग्र कहलाते हैं याने वह शील

जिनके पालन से व्यक्ति आर्य बन जाता है। ऐसे शील जो अखंडित हैं, अछिद्र हैं, बेदाग हैं, निष्कलंक हैं, निर्मल हैं, जो समझदारों द्वारा प्रशंसित हैं, जिनके प्रति कोई आसक्ति नहीं जागती। [किसी भी शील के प्रति आसक्ति जग जाय तो अन्य शीलों की अवहेलना होगी तथा इसके आगे समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास छूट जायगा।] आसक्ति नहीं होती तो ये शील समाधि की परिपूर्णता में सहायक होते हैं। इस प्रकार शीलवान व्यक्ति आर्य बनता है। ऐसे आर्य बनाने वाले शीलों को जो परिपूर्ण करता है वह अग्र को परिपूर्ण करता है। जो अग्र को परिपूर्ण करता है उसे अग्र फल की ही उपलब्धि होती है।

तदनंतर भगवान ने समझाया –

अग्गतो वे पसन्नानं – *जो अग्र के प्रति श्रद्धालु हैं,*

अग्गं धम्मं विजानतं – *अग्र धर्म के जानकार हैं।*

बुद्ध जैसे अग्र के प्रति श्रद्धालु होने का अर्थ अंध-श्रद्धा में डूब जाना नहीं है। भक्ति के भावावेश में यह आशा करने लगे कि बुद्ध मेरी दुर्गति नहीं होने देंगे, बुद्ध मुझे सद्गति देंगे, मुक्ति देंगे, ऐसी अंध-भक्ति में डूबा हुआ व्यक्ति बुद्ध का सही श्रद्धालु नहीं होता। बुद्ध का सही श्रद्धालु हो तो बुद्ध के द्वारा सुआख्यात धर्म के प्रति श्रद्धालु होकर उसे जाने, समझे और उसे अनुभूति पर उतारे। तभी कहा गया –

अग्गे धम्मे पसन्नानं – *अग्र धर्म के प्रति श्रद्धालु होता है तो,*

विरागूपसमे सुखे – *ऐसा व्यक्ति वीतरागता के प्रति श्रद्धालु होता है, विकारों के उपशमन के प्रति श्रद्धालु होता है, परम सुख निर्वाण के प्रति श्रद्धालु होता है।* श्रद्धालु होगा तो ही उन्हें धारण करने के लिए प्रयत्नशील होगा।

अग्गे सङ्घे पसन्नानं – *अग्र आर्य संघ के प्रति श्रद्धालु होता है।*

उसे जो अग्र दान देता है उससे –

अग्गं पुञ्ञं पवड्ढति – *अग्र पुण्य की संवृद्धि होती है।* जिससे –

अग्गं आयु च वण्णो च, यसो कित्ति सुखं बलं।

– इसी जीवन में लोकीय फल मिलता है जैसे दीर्घायु, प्रसिद्धि, यश, कीर्ति, सुख और बल।

ऐसा दानी जब –

अग्गधम्मसमाहितो – *अग्र धर्म में समाहित होता है तो देह छूटने पर,*

देवभूतो मनुस्सो वा – देवता होता है या मनुष्य होता है। और धर्म के रास्ते चलते रह कर –

अगप्पत्तो पमोदति – अग्र धर्म निर्वाण को प्राप्त कर प्रमुदित होता है। इस प्रकार चुंदी राजकुमारी को सांप्रदायिकताविहीन, सार्वजनीन सनातन धर्म की शिक्षा दी गयी।

कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से ही बुद्ध होता है। वह किसी संप्रदाय से नहीं जुड़ा होता। अपनी ही पारमिताओं से, त्याग, तपस्या और संयम से जुड़ा होता है। बुद्धत्व किसी संप्रदाय विशेष की मोनोपोली नहीं होती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति जीवन में किसी भी बुद्ध के संपर्क में न आये, न किसी बुद्ध का कोई उपदेश सुने, फिर भी अपनी ही समझदारी से शील, समाधि और प्रज्ञा वाले शुद्ध धर्म के रास्ते चले और बुद्ध बन जाय, शुद्ध बन जाय, मुक्त बन जाय। ऐसा व्यक्ति प्रत्येक बुद्ध याने एकाकी बुद्ध कहलाता है। अतः बुद्ध का संप्रदाय से कोई वास्ता नहीं होता। बुद्ध न कभी किसी संप्रदाय की स्थापना करता है, न किसी स्थापित संप्रदाय से जुड़ता है, न औरों को किसी स्थापित संप्रदाय के साथ जोड़ता है। वह स्वयं धर्म से जुड़ा होता है और लोगों को भी केवल धर्म के साथ ही जोड़ता है।

और धर्म भी वीतरागता का धर्म। राग रहेगा तो बंदी रहेगा ही, दुःखी रहेगा ही, भले अपने आप को चाहे जिस नाम से पुकारे। राग छूट जायगा तो बंधन मुक्त हो ही जायगा, दुःख मुक्त हो ही जायगा, भले अपने आप को चाहे जिस नाम से पुकारे। वीतरागता किसी एक संप्रदाय की बपौती नहीं है। यह तो जो धारे उसी का धर्म है। उसी के लिए कल्याणप्रद है। इसी माने में वीतरागता का धर्म सार्वजनीन है।

संघ भी किसी संप्रदाय विशेष के गृहत्यागियों के समूह को नहीं कहा जाता। जो आर्य हो गये वे ही सही माने में संघ हैं। अनार्य से आर्य हो गये तो कम से कम स्रोतापन्न तो हो ही गये, तो ही आर्य हुए अन्यथा नहीं। स्रोतापन्न होता है तो मरने पर दुर्गति से बच जाता है क्योंकि उसकी अपाय गतियां निरुद्ध हो जाती हैं। ऐसा व्यक्ति किसी की कृपा से आर्य नहीं बन जाता। अपने ही पुरुषार्थ से बनता है। कोई किसी को मार्ग भले दिखा दे पर किसी को तार नहीं सकता। यदि तारक होने का दावा करे तो संप्रदाय बन ही जाय। न धर्म सार्वजनीन रहे, न संघ संप्रदाय-मुक्त रहे।

शुद्ध शील का पालन इसीलिए किया जाता है कि उसके बल पर सम्यक समाधि पुष्ट कर ले और प्रज्ञा के आधार पर निर्वाण का साक्षात्कार कर ले तथा आर्य बन जाय। इससे सद्गति स्वतः निश्चित हो जाती है।

जब कोई व्यक्ति बुद्ध की शरण जाता है तो परम ज्ञानी की शरण जाता है, अज्ञानी की नहीं; जब धर्म की शरण जाता है तो सनातन सत्य

की शरण जाता है, काल्पनिक मिथ्यात्व की नहीं; जब संघ की शरण जाता है तो विमुक्त संतों की शरण जाता है, भवचक्र में आबद्ध असंतों की नहीं। जब सम्यक समाधि, प्रज्ञा और विमुक्ति की ओर ले जाने वाले आर्य शील की शरण जाता है तो शुद्ध सदाचार की शरण जाता है, दूषित दुराचार की नहीं।

ऐसा व्यक्ति सद्गति परायण ही होता है, दुर्गति परायण नहीं।

अतः साधको, आओ! बुद्ध, धर्म और संघ के सही अर्थ को समझते हुए श्रद्धा जगायें और शील, समाधि, प्रज्ञा का अभ्यास कर अपना कल्याण साध लें।

१०. अभागा राजकुमार जयसेन

हम नहीं जानते कि महाराज बिम्बिसार के रनवासमें कुल कितनी रानियां थीं, और उनकी कुल कितनी संतान थीं। परंतु यह अनुमान कर सकते हैं कि उन दिनों के राजघरानों की प्रचलित परंपरा के कारण और भगवान बुद्ध के संपर्क में आने के पूर्व, अपनी युवावस्था में अत्यंत कामलोलुप होने के कारण बिम्बिसार की अनेक रानीयां और उनसे उत्पन्न अनेक संतान रही होंगी।

पुरातन वाङ्मय में बिम्बिसार के एक अन्य पुत्र, राजकुमार जयसेन का नाम हमारे सामने उभर कर आता है। हम उसकी माता का नाम नहीं जानते। परंतु देखते हैं कि उसका 'भूमिज' नाम का एक मामा भगवान बुद्ध के संपर्क में आकर उनके भिक्षुसंघ में प्रव्रजित हो गया था। साथ-साथ यह भी देखते हैं कि पिता बिम्बिसार और मामा भूमिज भगवान बुद्ध की शिक्षा से अत्यंत लाभान्वित हुए परंतु राजकुमार जयसेन इस लाभ से वंचित ही रह गया। वह भगवान बुद्ध से मिला भी हो, ऐसा कोई प्रसंग हमारे सामने नहीं आता। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि राजपुत्र होने के कारण सतत कामभोग में लिप्त रहनेवाला व्यक्ति सद्धर्म की निष्कामता भरी शिक्षाओं से दूर ही रहना चाहता हो। ऐसी शिक्षा उसके लिए जरा भी रुचिकर न हो। दूसरा कारण यह हो सकता है कि राजघराने में प्रवेश पानेवाले अन्य अनेक धर्मगुरुओं में से किसी ऐसे के प्रति उसकी अंधश्रद्धा जाग गयी हो, जो कि भगवान बुद्ध के प्रति विरोधीभाव रखता हो। अथवा यह भी हो सकता है कि यह दोनों ही कारण उसके जीवन से जुड़ गये हों।

उन दिनों भगवान बुद्ध महाराज बिम्बिसार द्वारा दान में दिये गये वेणुवन कलन्दकनिवाप में विहार कर रहे थे। परंतु राजकुमार जयसेन न स्वयं भगवान बुद्ध से मिला और न ही उनके किसी प्रमुख शिष्य से। हो सकता है कि उसके गुरु ने उसे यह मिथ्या बात समझा रखी हो कि श्रमण गौतम मायावी है, और वह ऐसी आवर्तनी-विद्या जानता है, जिससे मिलने वाले को अपनी ओर मोड़ कर अपना शिष्य बना लेता है। इस कारण राजकुमार जयसेन भगवान बुद्ध से कतराता रहा हो। तभी हम देखते हैं कि स्वयं

भगवान बुद्ध से न मिल कर एक दिन टहलता हुआ श्रमणोद्देश अचिरवत से मिलने के लिए नगर के समीप उस अरण्य में चला गया, जहां कि वह एक कुटिया में निवास करता था। श्रमणोद्देश उसे कहते हैं जो कि श्रमण बनने के उद्देश्य से श्रमणवेष धारण करके श्रमण-जीवन जीने का प्रारंभिक अभ्यास करता है। उसे श्रामणेर भी कहते हैं। अचिरवत को श्रामणेर हुए अभी थोड़े ही दिन बीते थे। शायद इसीलिए उसे अचिरवत कहा गया हो। श्रामणेर अचिरवत भगवान से सुनी हुई धर्मवाणी कंठस्थ कर रहा था, और उसे अपने अनुभव पर उतारने का प्रयत्न-प्रयास कर रहा था।

राजकुमार जयसेन श्रामणेर के पास गया और कुशलक्षेम पूछकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठकर उसने श्रामणेर से बातचीत शुरु की।

लगता है राजकुमार जयसेन श्रामणेर अचिरवत को पहले से जानता था। इसीलिए वह उसे श्रमण या श्रामणेर कह कर संबोधित नहीं करता, बल्कि 'अग्निवेश' कह कर उसके नाम से पुकारता है। उन दिनों किसी एक संप्रदाय के संन्यासी अग्निवेश के नाम से पुकारे जाते थे। हो सकता है यह श्रामणेर पहले उस संप्रदाय का संन्यासी रहा हो, और जयसेन उसे तब से जानता रहा हो। इसीलिए उसे इस नाम से पुकारता है।

अग्निवेश्यायन उन दिनों के ब्राह्मणों का एक गोत्र भी था, जिसे कि कुछ एक क्षत्रियों ने भी अपना लिया था। अतः यह भी संभव है कि यह श्रामणेर उसी गोत्र के किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल से प्रव्रजित हुआ हो और इसलिए राजकुमार उसे अग्निवेश के नाम से पुकारता हो। आगे चल कर हम देखते हैं कि स्वयं भगवान बुद्ध भी इस श्रामणेर को अग्निवेश **[अग्गिवेस्सन]** के नाम से ही संबोधन करते हैं।

जो भी हो, राजकुमार ने वार्तालाप आरंभ करते हुए कहा–

"अग्निवेश, मैंने सुना है कि कोई भिक्षु, प्रमादरहित, संयम का जीवन जीता हुआ, प्रयत्नशील होता है, तो नितांत चित्त-एकाग्रता की अवस्था प्राप्त कर लेता है। क्या यह सच है?"

अग्निवेश ने उत्तर दिया–

"हां, यह बिल्कुल सच है।"

उन दिनों ऐसे भी आचार्य थे, जो यह मानते थे कि चित्त-एकाग्रता की नितांत निर्वितर्क, निर्विचार अवस्था, किसी भी हालत में उपलब्ध नहीं की जा सकती। हो सकता है जयसेन का गुरु भी इसी मान्यता का मानने वाला हो। अथवा यह भी हो सकता है कि स्वयं अपने चंचल चित्त को, कभी क्षणभर के लिए भी निर्विचार होते न देख कर उसने

भी यही मान रखा हो कि, वस्तुतः चित्त कभी एकाग्र नहीं हो सकता।

अतः उत्सुकतावश उसने यह जानना चाहा कि भगवान बुद्ध की शिक्षा में क्या चित्त सचमुच एकाग्र होता है? जब उत्तर हां में मिला तो उसने निवेदन किया – "अग्निवेश, चित्त को निर्विचार कर देने वाले इस धर्म को तुमने जिस प्रकार भी सुना और समझा है, वह मुझे बताओ।"

लगता है, श्रामणेर अग्निवेश को भी राजकुमार जयसेन का पूर्वपरिचय था। इसलिए जानता था कि वह भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के प्रति अत्यंत शंकालु है, और श्रद्धाशून्य भी। अतः उससे व्यर्थ ही बहस में उलझना नहीं चाहता था। ध्यान का विषय ही इतना गंभीर है, और तिसपर किसी नितांत श्रद्धाशून्य, शंकालु व्यक्ति से की गयी उसकी चर्चा कैसे सार्थक, सफल हो सकती है? अतः एक ओर धर्म समझा सकने की अपनी शक्ति-सीमा को जानते हुए, और दूसरी ओर अन्य किसी मत के अनुयायी राजकुमार की वादविवादी वृत्ति को ध्यान में रखते हुए श्रामणेर अग्निवेश ने धर्मचर्चा करने के लिए एक शर्त रखी। वह यह कि मैं जो धर्म समझाऊं, उसे सुन कर यदि वह तुम्हारी समझ में आ जाए तो ठीक, वरना तुम भले अपने मत में स्थिर बने रहना परंतु इस वार्तालाप को वहीं स्थगित कर देना। तदनंतर और बातें पूछ कर व्यर्थ वादविवाद मत बढ़ाना।

राजकुमार ने यह शर्त मान ली और श्रामणेर ने उसे धर्मदेशना दी। इसे सुनकर राजकुमार ने कहा कि अवितर्क, अविचार चैतसिक एकाग्रता प्राप्त की जानी संभव नहीं है और वह "असंभव, असंभव" कहता हुआ वहां से उठकर चल दिया।

हम नहीं जानते कि श्रामणेर ने राजकुमार जयसेन को क्या धर्मदेशना दी। परंतु यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि उसने चारों ध्यान-समापत्तियों के साथ, विपश्यनाजन्य परममुक्त अवस्था प्राप्त करने का विवरण न भी दिया होगा तो भी इतना तो अवश्य समझाया होगा कि किस प्रकार ध्यानी साधक,

वितक्कविचारानं वूपसमा –

वितर्क और विचारों का उपशमन होने पर,

अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं –

आंतरिक, प्रसन्नता-भरी, चित्त एकाग्रता प्राप्त करके,

अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं उपसम्पज्ज विहरति – *निर्वितर्क, निर्विचार समाधि से उत्पन्न प्रीति (चैतसिक आनंद) और सुख (कायिक सुख) वाली दूसरी ध्यान-समापत्ति में विहार करता है।*

राजकुमार जयसेन का यही प्रश्न था कि क्या निर्वितर्क, निर्विचार चित्त-एकाग्रता प्राप्त हो सकती है ? इससे आगे की ऊंची अवस्थाओं को जानने की उसकी कोई रुचि भी नहीं थी, अतः संभव है उसे इतना ही समझाया हो। परंतु साथ-साथ यह तो स्पष्ट किया ही होगा कि इस दूसरे ध्यान की उपलब्धि के पूर्व प्रथम ध्यान की उपलब्धि आवश्यक है जो कि **सवितक्कं सविचारं** होता है, यानी जिसमें वितर्क-विचार तो चलते हैं परंतु वे–

विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि –

यानी *कामभोग के तथा अन्य अकुशल धर्मों के चिंतन से विमुक्त होते हैं।*

प्रथम ध्यान में संकल्प-विकल्प, चिंतन-मनन सर्वथा निरुद्ध नहीं होते। परंतु जो विचार चलते हैं वे सम्यक होते हैं; धर्ममयी कुशल चेतना पर आधारित होते हैं। मन को विकारों से विकृत करने वाले सभी चिंतन अकुशल होते हैं। ध्यान के लिए सभी अकुशल चिंतन त्याज्य होते हैं। परंतु कामभोग का चिंतन तो सर्वाधिक अकुशल होता है। अतः इसे त्यागना नितांत अनिवार्य होता है। तभी कहा गया– **विविच्चेव कामेहि।** कामभोग के चिंतन-मनन से विमुक्त हुए बिना प्रथम ध्यान की भी उपलब्धि नहीं हो पाती, द्वितीय ध्यान तो दूर रहा।

और फिर यह भी स्पष्ट किया होगा कि प्रथम ध्यान-समापत्ति की उपलब्धि के लिए पहले पांच नीवरणों यानी आवरणों यानी अवरोधकों को दूर कर लेना आवश्यक होता है। ध्यान के इन पांच अवरोधकों में भी कामछन्द यानी कामभोग की एषणा ही प्रथम और प्रमुख है। कामभोग की लालसा बनी रहे, तो प्रथम ध्यान के लिए उचित भूमिका ही तैयार नहीं होती। प्रथम ध्यान तो दूर ही रहता है। अवितर्क, अविचारजन्य चित्त-एकाग्रता वाला द्वितीय ध्यान तो बहुत ही दूर रहता है।

पांच नीवरणों से छुटकारा पाने के लिए पांचों शीलों का पालन करना आवश्यक होता है। गृहत्यागी संन्यासी हो तो उसे कामभोग से सर्वथा विमुक्त रह कर, सदैव अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है। गृहस्थ हो तो कामभोग संबंधित मिथ्याचरण से यानी व्यभिचार से सदैव विरत रहना होता है। गृहस्थ दंपति को प्रति सप्ताह उपोसथ के एक दिन के अतिरिक्त जितने दिनों ध्यान का अभ्यास करने के लिए किसी ध्यान केंद्र में रहे, उतने दिनों अनिवार्यतः अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है जिससे कि आगे चल कर सदगृहस्थ रहते हुए भी सहज भाव से सदैव ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हुए कामभोग के क्षेत्र से सर्वथा मुक्त हो सके। कामभोग के विकारों से विमुक्त हुए बिना, अन्यान्य मनोविकारों से विमुक्त हो सकना असंभव है।

और मनोविकारों से विमुक्त हुए बिना, कोई मिथ्या जड़-समाधि भले प्राप्त कर ले, सम्यक-समाधि प्राप्त करना सर्वथा असंभव है। स्पष्ट है कि राजकुमार जयसेन को यह रास नहीं आया इसीलिए वह "असंभव, असंभव" कहता हुआ चला गया।

जब यह सारा वृत्तांत भगवान बुद्ध तक पहुँचा तो उन्होंने कहा– ध्यान की यह अवस्था कामभोगों से विरत हो कर ही प्राप्त हो सकती है। कामभोगों में निरत-निमग्न रहता हुआ, कामवितर्कों में खज़ता हुआ, कामाग्नि में जलता हुआ, कामभोग की खोज में सदा चिंतामग्न रहता हुआ राजकुमार जयसेन इसे प्राप्त कर सकेगा, इसका साक्षात्कार कर सकेगा, इसकी जरा भी संभावना नहीं है। सचमुच उसके लिए यह असंभव ही है।

हम नहीं जानते कि राजकुमार जयसेन स्वयं अत्यंत कामातुर होने के कारण चंद दिनों के लिए भी कामभोग से विरत रह कर ध्यान की यह कल्याणी विद्या एक बार आजमा कर भी नहीं देख पाया अथवा वह किसी ऐसे गुरु के चंगुल में फँसा था, जो कि शील-सदाचार का पालन करना निरर्थक मानता था और कामभोगों के रसास्वादन में सदा निमग्न रहने को बुरा नहीं मानता था।

भगवान बुद्ध के जीवनकाल में छः अन्य प्रमुख धर्माचार्य थे। उनमें से चार ऐसे थे, जो किसी भी सत्कर्म या दुष्कर्म का सत्फल या दुष्फल प्रकट होना नहीं मानते थे। वे न यम, नियम, संयम और सदाचार को अच्छा मानते थे और न ही शीलभग्न जीवन को बुरा मानते थे। वे आचार्य थे– पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केशकम्बल और प्रक्रुध कात्यायन। तत्कालीन भारतीय समाज में शील सदाचार के स्थान पर इस प्रकार उन्मुक्त दुराचरण को बढ़ावा देने वाले इन तथाकथित धर्माचार्यों के भी उन दिनों अनेक अनुयायी और प्रशंसक थे। ये चारों के चारों,

सङ्घीचेव गणी च गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स –

यानी संघपति थे, गणपति थे, गणाचार्य थे, ज्ञानी माने जाते थे, यशस्वी थे, अपना-अपना संप्रदाय स्थापित करने वाले तीर्थंकर थे, बहुत लोगों द्वारा साधु माने जाते थे।

आश्चर्य है, दुराचार के पोषक होते हुए भी वे इतने लोकप्रिय और यशस्वी कैसे हो गये! और इतनी बड़ी संख्या में उनके अनुयायी भी कैसे हो गये! अवश्य ही वे सब के सब अत्यंत आकर्षक भव्य व्यक्तित्व के धनी रहे होंगे और लच्छेदार भाषा में लोगों को अध्यात्म तथा ध्यान की ऊंची-ऊंची

बातें कहने में चारुवाक (चार्वाक) रहे होंगे। इन्हीं आकर्षणों के बल पर इतनी बड़ी संख्या में लोगों को ठगने में सफल रहे होंगे। भारत में सौभाग्य से समय-समय पर, जहां एक ओर शील सदाचार संपन्न संत श्रमण और ब्राह्मण उत्पन्न होते रहे हैं, वहां दुर्भाग्य से समय-समय पर ऐसे वाकपटु चार्वाक भी उत्पन्न होते रहे हैं। लगता है, अभागा राजकुमार जयसेन ऐसे किसी धूर्त आचार्य के चंगुल में फँस कर कल्याणकारी विशुद्ध धर्म के मार्ग से सर्वथा वंचित रह गया। भगवान बुद्ध के जीवन काल में, एक बुद्धभक्त राजपरिवार में जन्म ले कर और राजगृह में उनके इतने समीप निवास करते हुए भी भगवान से संपर्क न कर सका और अपना मंगल कल्याण न साध सका।

भ्रमित जयसेन

बिंबिसार के पुत्र राजकुमार जयसेन के बारे में भगवान ने कहा था कि वह अत्यंत कामलोलुप है। वह कामार्त राजकुमार –

काममज्झे वसन्तो – कामभोगों के बीच निवास करता हुआ,
कामे पटिभुञ्जन्तो – कामभोग का आस्वादन करता हुआ,
कामवितक्केहि खज्जमानो – कामवितर्कों द्वारा भक्षण किया जाता हुआ,
कामपरिळाहेन परिडय्हमानो – कामाग्नि द्वारा दग्ध किया जाता हुआ,
काम परियेसनाय उस्सुको – (नित्य नये) कामभोग की खोज में उत्सुक और निमग्न रहता हुआ, दूषित जीवन बिताता है।

ऐसा व्यक्ति कामभोगों का सर्वथा परित्याग करके भिक्षु का जीवन जी सके यह तो असंभव ही था, परंतु गृही रहते हुए भी कभी-कभी अष्टशीलों का पालन करते हुए साप्ताहिक उपोसथ कर ले अथवा कुछ दिनों के लिए किसी विहार में रह कर ध्यान और विपश्यना का अभ्यास कर ले, यह भी उसके लिए अशक्य था, असंभव था।

इसीलिए भगवान ने कहा कि यह असंभव है कि इस प्रकार कामपंक में डूबा रहने वाला राजकुमार उस सच्चाई का साक्षात्कार कर सकेगा जो –

नेक्खम्मेन ञातब्बं... दट्ठब्बं... पत्तब्बं... सच्छिकातब्बं।

– निष्कामता से ही जानी जा सकती है, देखी जा सकती है, प्राप्त की जा सकती है और साक्षात्कार की जा सकती है।

सचमुच यह असंभव है कि कोई व्यक्ति कीचड़ में लोट-पलोट लगाता

रहे और अपने आप को स्वच्छ भी रख सके। कोई व्यक्ति काम की ज्वाला में सतत जलता रहे और आंतरिक सच्चाई के साक्षात्कार का शांति-लाभ भी ले सके।

राजकुमार जयसेन के मामा भिक्षु भूमिज के मन में उसके प्रति करुणा जागी। जिस ध्यान का रस उन्होंने स्वयं चखा था उसे उनका भांजा भी चखे। उसे चखने के लिए गृहस्थ जीवन त्याग कर प्रव्रजित न हो तो भी जैसे अन्य अनेक गृहस्थ अपनी गृही जिम्मेदारियों को कुशलतापूर्वक निभाते हुए भी व्यभिचार को सदा के लिए त्याग कर, समय-समय पर एक या एक से अधिक दिनों तक कामभोग से सर्वथा विरत रह कर अंतर्मुखी होने का अभ्यास करते हैं और लाभान्वित होते हैं, वैसे ही राजकुमार जयसेन भी करे और लाभान्वित हो। अनुमानतः इसी उद्देश्य से वह भिक्षाटन के लिए राजकुमार जयसेन के घर गये, जहां उन्हें एक बिछे आसन पर ससम्मान बिठाया गया। राजकुमार जयसेन भी उनसे मिलने के लिए अंतःपुर से बाहर आया और कुशल-क्षेम की औपचारिक बातें करके एक ओर बैठ गया।

राजकुमार जयसेन को दीर्घकालीन या अल्पकालीन ब्रह्मचर्यवास पर भिक्षु भूमिज कुछ समझाते, इसके पहले ही इसने इस विषय की चर्चा स्वयं छेड़ दी। उन दिनों की भाषा में श्रेष्ठ जीवन जीने को धर्माचरण भी कहते थे, ब्रह्माचरण भी। शील, समाधि और प्रज्ञा का जीवन जीना ही धर्माचरण कहा जाता था। धर्माचरण कहें या ब्रह्माचरण – उसमें कामभोग से विरत रहने का व्रत समाविष्ट है ही। इसके लिए गृहत्यागी अपने शास्ता के पास जीवन भर रह कर ब्रह्मचर्यवास करता था और गृहस्थ अल्पकाल के लिए। कोई साधक मुक्ति मोक्ष आदि की आशा-आकांक्षा लेकर और कोई लोकीय तथा परलोकीय सुखों की आशा-आकांक्षा लेकर ब्रह्मचर्यवास करता होगा। कोई-कोई बिना किसी प्रकार की आशा-आकांक्षा के ही ब्रह्मचर्यवास करता होगा। इसी को लक्ष्य कर राजकुमार जयसेन ने कहा कि कुछ श्रमण-ब्राह्मण इस मत के हैं कि किसी भी उद्देश्य से ब्रह्मचर्यवास किया जाय उसका कोई भी फल प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मचर्यवास सदा निरर्थक निष्फल होता है।

यह कह कर जयसेन ने भिक्षु भूमिज से पूछा कि इस विषय में आप के शास्ता का क्या मत है?

उत्तर देते हुए भिक्षु भूमिज ने कहा कि भगवान के उपदेशों को उन्होंने जिस प्रकार समझा है, उसके अनुसार कोई व्यक्ति किसी भी उद्देश्य से ब्रह्मचर्यवास करे, परंतु सफल वह तभी होता है जब कि उसका ब्रह्मचर्यवास **योनिसो** होता है। यदि वह **अयोनिसो** हो तो उस ब्रह्मचर्यवास का उसे कोई

लाभ नहीं मिलता। यह सुन कर राजकुमार जयसेन झट बोल उठा, ''यदि तुम्हारे शास्ता का ऐसा मत है तो मैं यह मानूं कि वे अन्य सभी श्रमण-ब्राह्मणों में मूर्धन्य हैं।''

स्पष्ट है कि उसके इस कथन में गहरा व्यंग समाया हुआ था। उसका मानस पहले से ही तथागत और उनकी शिक्षा के प्रति विपक्ष के भावों से पूर्वाग्रहग्रसित था, विरोध के भावों से दूषित था। उसने अपने मामा से योनिशः और अयोनिशः ब्रह्माचरण का अर्थ तक नहीं पूछा और ऐसा व्यंग-भरा वक्तव्य देकर बात वहीं समाप्त कर दी।

भगवान की शिक्षा के अनुसार कार्य-कारण के नैसर्गिक नियमों को आधार मान कर जो ब्रह्मचर्यवास किया जाता है, वही योनिशः होता है, वही लाभप्रद होता है; अन्य नहीं। नैसर्गिक नियम यह है कि तृष्णाजन्य विकारों से कोई अपना चित्त विकृत कर ले तो परिणामस्वरूप दुक्ख भोगता है और विकारों से मुक्त हो जाय तो दुक्ख-विमुक्त हो जाता है।

इस नैसर्गिक नियम पर आधारित हो तभी दर्शन सम्यक याने सही होता है, अतः योनिशः होता है। अन्यथा मिथ्या होता है, अयोनिशः होता है। इस नैसर्गिक नियम पर आधारित हो तो ही संकल्प-विकल्प, तो ही वाचिक-कर्म, शारीरिक-कर्म, आजीविका, प्रधान-परिश्रम, तो ही सजगता और समाधि भी सम्यक होती हैं, सही होती हैं, योनिशः होती हैं। अन्यथा यह सब मिथ्या होते हैं, अयोनिशः होते हैं।

भगवान बुद्ध ने समझाया कि जो इस प्रकार योनिशः ब्रह्माचरण का जीवन जीता है उसे मनोवांछित फल वैसे ही प्राप्त होता है जैसे कि तेल चाहने वाले को तिलहन के पेरने से तेल प्राप्त होता है; दूध चाहने वाले को दुधारू गाय का थन दुहने से दूध प्राप्त होता है; नवनीत चाहने वाले को दधि-मंथन से नवनीत प्राप्त होता है; अग्नि चाहने वाले को दो सूखी लकड़िओं के रगड़ने से अग्नि प्राप्त होती है।

जो अयोनिशः ब्रह्माचरण का जीवन जीता है उसे वैसे ही मनोवांछित फल प्राप्त नहीं होता जैसे कि तेल चाहने वाले को रेत पेरने से, दूध चाहने वाले को गाय का सींग दुहने से, नवनीत चाहने वाले को पानी मथने से, अग्नि चाहने वाले को दो गीली लकड़ियों को रगड़ने से कोई फल प्राप्त नहीं होता।

भगवान ने भिक्षु भूमिज से कहा कि यदि तुम राजकुमार जयसेन को इन उपमाओं से समझाते तो संभव है वह तुम्हारे कथन का अनुमोदन करता। इसके पहले उन्होंने श्रामणेर अग्निवेश को भी कुछ एक उपमाएं बता कर

कहा था कि यदि तुम ऐसी उपमाओं से समझाते तो संभवतः जयसेन तुम्हारे कथन का अनुमोदन करता। परंतु दोनों ही धर्म के मार्ग पर नये थे। स्वयं धर्म-धारण करने का अभ्यास अवश्य कर रहे थे, परंतु किसी दूसरे को भली प्रकार धर्म समझा कर आश्वस्त कर सकने की क्षमता प्राप्त नहीं कर पाये थे। अग्निवेश तो अभी श्रामणेर ही था, परंतु भूमिज भिक्षु होते हुए भी लगता है अभी परिपक्व नहीं हो पाये थे। इसीलिए दोनों ने भगवान के इस कथन पर एक जैसी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा था –

‘‘भगवान, मैं राजकुमार को इन उपमाओं से कैसे समझाता जब कि मैंने इन्हें पहले कभी सुना ही नहीं था। मैं इन्हें आज पहली बार आप से सुन रहा हूं।’’

स्पष्ट है कि राजकुमार जयसेन को श्रामणेर अग्निवेश और भिक्षु भूमिज जैसे नौसिखिये शुद्ध धर्म की महत्ता नहीं समझा सके। परंतु उसे समझना भी तो नहीं था, इसी कारण वह भगवान बुद्ध और उनके वरिष्ठ शिष्यों से कतराता रहा। यह अनुमान करना उचित ही लगता है कि वह उन्मुक्त कामभोग के विरुद्ध कुछ भी सुनने को तैयार नहीं था। अवश्य ही उसका गुरु उन्मुक्त कामभोग का प्रबल हिमायती रहा होगा। दुर्बल मानव कामभोग के क्षेत्र में किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं चाहता और जब उसे ऐसा गया-गुजरा गुरु मिल जाय, जो कि वैवाहिक आचार-संहिता को ठुकरा कर पशुओं जैसे उन्मुक्त कामाचरण को प्रोत्साहन देने वाला हो तो उसे वह बहुत प्रिय लगता है। ऐसे गुरु की ओर अनेक चारित्र्य-शिथिल लोगों का आकर्षित हो जाना स्वाभाविक है। सर्व सुविधा-संपन्न अहंभावी राजकुमार जयसेन का तो कहना ही क्या ? वह अवश्य ऐसे किसी शील-विरोधी गुरु का कट्टर अनुयायी हो गया होगा।

भगवान बुद्ध के समकालीन छः अन्य लोकविश्रुत धर्माचार्य थे जो बहुजनपूज्य थे, गणी थे, गणाधिपति थे और अपने-अपने संप्रदाय के संस्थापक-तीर्थंकर थे। आज के भारत की आम जनता के लिए उनमें से पांच के तो नाम तक काल-प्रवाह में बह कर विलुप्तप्राय हो चुके हैं। पुरातन वाङ्मय में कहीं-कहीं उनके नाम का और बहुत संक्षेप में उनकी शिक्षा का उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर हम उनके बारे में कुछ जान सकते हैं। छठे निगंठ नाथपुत्त (महावीर स्वामी) ही केवल एक ऐसे बचे हैं जो कि भारत के जनमानस के लिए श्रद्धा-पात्र के रूप में अब तक कायम रह सके हैं क्योंकि वे कर्म और कर्मानुकूल कर्म-फल के नैसर्गिक धर्म-सिद्धांत के पोषक थे और चातुर्याम के रूप में शील-सदाचार की धर्म-शिक्षा को महत्त्व देते थे।

वे कामभोग संबंधी भ्रष्टाचार के रंचमात्र भी पोषक नहीं थे। अतः राजकुमार जयसेन उनका शिष्य रहा हो, इसकी संभावना बिल्कुल नहीं है।

बाकी पांच धर्माचार्यों में से एक था – संजय वेलट्ठिपुत्त। वह बहुत ही अस्थिर मान्यता का आचार्य था। जब कोई उससे पूछता कि क्या अच्छे-बुरे कर्म का अच्छा-बुरा फल मिलता है ? तो वह किसी मत पर स्थिर न रहता हुआ उत्तर देता कि मैं तो यह भी नहीं कहता कि अच्छे-बुरे कर्म का अच्छा-बुरा फल मिलता है और यह भी नहीं कहता कि अच्छे-बुरे कर्म का अच्छा-बुरा फल नहीं मिलता। राजकुमार जयसेन उसका भी शिष्य शायद ही रहा हो क्योंकि वह उन्मुक्त दुराचरण का स्पष्ट हिमायती नहीं लगता।

बाकी बचे चारों में से एक धर्माचार्य था – पूर्ण कश्यप। वह कर्म और तदनुकूल कर्म-फल के नैसर्गिक सिद्धांत का प्रबल विरोधी था। वह दावे के साथ यह कहता था कि दुराचरण में न कोई पाप है न दोष और न ही किसी दुराचरण का कोई दुष्फल भोगना पड़ता है। इसी प्रकार सदाचरण में न कोई पुण्य है न अच्छाई और न ही किसी सदाचरण का कोई सत्फल मिलता है।

अपना स्वार्थ साधने के लिए न झूठ बोलने में पाप है, न चोरी करने में, न डाका डालने में और न गांव लूटने में। न ही अपनी काम-वासना पूरी करने के लिए व्यभिचार करने में कोई पाप है तथा न ही प्राणियों की हत्या कर, उनकी बोटी-बोटी काटकर मांस का एक बड़ा ढेर खड़ा कर देने में ही कोई पाप है। इसी प्रकार न सच बोलने में, न यम-नियम-संयम में और न दान देने में ही कोई पुण्यलाभ है।

दूसरा धर्माचार्य था – मक्खलि गोशाल। वह कट्टर भाग्यवादी था और यह शिक्षा देता था कि प्राणियों के सुख-दुख का कोई कारण नहीं होता। न सत्कर्म के कारण सुख आता है और न दुष्कर्म के कारण दुख। सुख-दुख की मात्रा प्रारब्ध के अनुसार पूर्वनिश्चित होती है। उसमें कोई घट-बढ़ नहीं हो सकती। भाग्य द्वारा नियंत्रित प्राणी परवश है, पराधीन है, अबल है, असहाय है। किसी भी शील, व्रत, संयम, ब्रह्मचर्य अथवा पुरुषार्थ द्वारा उसके सुख-दुख में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

तीसरा धर्माचार्य था – अजित केशकंबल। वह भी कर्म-सिद्धांत का घोर विरोधी था। उसकी भी यही मान्यता थी कि न किसी पाप-कर्म का बुरा फल होता है और न किसी पुण्य-कर्म का अच्छा फल। मनुष्य चार महाभूतों से बना है। मरणोपरांत चिता पर जलाये जाने के बाद उसकी केवल राख ही बचती है और कुछ नहीं।

उन दिनों का एक अन्य धर्माचार्य था – प्रक्रुद्ध कात्यायन। उसकी शिक्षा

के अनुसार किसी तीक्ष्ण हथियार से एक व्यक्ति का शिर काट दिया जाय तो भी वह हत्या नहीं है क्योंकि जीव तो अजर है, अमर है, ध्रुव है, शाश्वत है, कूटस्थ है। अतः न कोई मारक है, न मृत। न कोई हत्यारा है, न हत। न कोई मारने वाला है, न मरने वाला। याने अपने स्वार्थ-साधन के लिए असंख्य हत्याएं कर दी जायँ तो भी कोई दोष नहीं।

हम नहीं जानते कि जयसेन जैसा शील-सदाचार विरोधी राजकुमार इन पिछले चारों वाममार्गी गुरुओं में से किसका अनुयायी था। परंतु इतना स्पष्ट है कि वह अवश्य इनमें से किसी एक के चक्कर में पड़ कर बहुत भटक गया था। शुद्ध धर्म-गंगा के इतने समीप रहते हुए भी वह इससे लाभान्वित नहीं हो सका था। स्वयं कामांध होने के कारण अमर्यादित कामभोग को बढ़ावा देने वाले शीलभ्रष्ट शास्ता ही उसे प्रिय लगते थे। किसी धर्मनिष्ठ शास्ता के सान्निध्य में कुछ समय के लिए भी ब्रह्मचर्यवास करना उसे निरर्थक लगता था। इस निमित्त वह अपने परम हितैषी मामा की भी पूरी बात सुनने के लिए तैयार नहीं था। भिक्षा के लिए अपने घर आये हुए भिक्षु भूमिज को उसने भोजन तो अवश्य परोसा, पर धर्म से दूर रह कर अपने सही मंगल-कल्याण से वंचित ही रहा।

शील-सदाचार धर्ममय जीवन का आधार है। यही धर्म की बुनियाद है। कोई वाक्चातुर्य द्वारा शील-सदाचार की बुनियाद के बिना समाधि और प्रज्ञा की लाख मनमोहिनी बातें करके लोगों को आकर्षित कर ले, परंतु इससे कोई कल्याणकारी उपलब्धि नहीं हो सकती। शील-सदाचार पर आधारित धर्म ही शुद्ध धर्म है। उसे धारण करने में ही सही माने में मंगल है, सही माने में कल्याण है।

११. महाली लिच्छवी

कोशल का राजकुमार प्रसेनजित, कुशीनारा के मल्लों का राजकुमार बंधुल और वैशाली के गणतंत्र का राजकुमार महाली, तीनों तक्षशिला विश्व विद्यालय में सहपाठी थे। स्नातकोत्तर प्रसेनजित कोशल का राजा बना। बंधुल कोशल का प्रधान सेनापति बना और महाली वैशाली गणतंत्र के राजकुमारों, सेनानियों और सैनिकों का धनुर्विद्या-शिक्षक बना।

प्रसेनजित और बिंबिसार एक दूसरे के साले भी थे और बहनोई भी। प्रसेनजित की बहन कोशलदेवी बिंबिसार को ब्याही गयी थी और बिंबिसार की बहन प्रसेनजित को। इस घनिष्ट पारिवारिक संबंध के कारण दोनों में गहरी मित्रता थी। इसी मैत्री के कारण प्रसेनजित का सहपाठी और मित्र महाली बिंबिसार का भी मित्र बना।

लिच्छवी गणतंत्र मगध का पड़ोसी देश था। दोनों में पारस्परिक मनमुटाव होने के अनेक कारण थे। एक तो यही कि गणतंत्र के निवासी राजतंत्र के निवासियों से कहीं अधिक सुखी और सुरक्षित रहते थे। शासनतंत्र में या किसी शासनाधिकारी में कोई दोष हो तो एक लिच्छवी नागरिक सर्वथा निडर होकर उसकी शिकायत किसी उच्चाधिकारी से कर सकता था। सुधार न हो तो उसकी चर्चा संथागार (संसद) में उठायी जा सकती थी। परंतु राजतंत्र में ऐसा नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त लिच्छवी गणतंत्र की एक बड़ी विशेषता यह भी थी कि वहां की न्यायपालिका बहुत स्वच्छ, निष्पक्ष, पारदर्शी, निर्भय तथा ईमानदार थी। अपराध के संदेह में कोई व्यक्ति पकड़ा जाय तो जब तक अपराध साबित न हो जाय, तब तक उसे सजा नहीं दी जाती थी। यदि सजा देने लायक होता तो भी मामला विनिच्छय महामात्य के पास भेजा जाता था, जो अपनी ओर से स्वतंत्र जांच करता या करवाता था। उसे सही लगे तो मामला वोहारिक (व्यवहारिक) के कार्यालय में जाता था, जो कि राज्य की दंड-संहिता का जानकार होता था और वही यह निर्णय करता था कि ऐसे अपराध के लिए क्या दंड दिया जाना चाहिए। अपराधी उसके निर्णय से संतुष्ट नहीं हो तो मामला सुत्तधर (सूत्रधर) के पास जाता था जो कानून का विशष्ट मर्मज्ञ होता था। अपराधी उसके सामने अपील कर सकता था। उसके ऊपर भी अपील

करनी होती तो अत्थकुलक समिति के पास जाता था, जिसके सदस्य लोक व्यवहार के सभी पक्षों में अनुभवी होते थे, जैसे कि आजकल ज्यूरी होती है। उसके निर्णय की भी अपील सेनापति से की जा सकती थी, जो कि सेना का ही नहीं, न्यायपालिका का भी उच्चतम अधिकारी होता था। उससे भी ऊपर अपील करनी हो तो उपराजा को और फिर राजा को की जा सकती थी। संथागार (संसद) के सभी सदस्य राजा कहलाते थे। याने अपने क्षेत्र के संसद सदस्य को अपील जा सकती थी। और फिर आवश्यकता हुई तो संसद को भी। इतनी गहरी और सूक्ष्म छान-बीन होने के कारण न्याय में धांधली चलने की गुंजाइश बहुत कम रहती थी, जब कि राजतंत्र में यह सब नहीं हो सकता था। वहां तो निरंकुश मनमानी ही चलती थी। इसलिए जनसाधारण जनतंत्र के राज्य में अपने आप को अधिक सुखी और सुरक्षित महसूस करता था। राजतंत्र को सदा इस बात का भय बना रहता था कि कहीं उसकी प्रजा गणतंत्र स्थापित करने के लिए बगावत न कर दे। और जब गणतंत्र पड़ोस में ही हो तो यह खतरा और अधिक बढ़ जाता था। इसके कारण भी मनमुटाव होना स्वाभाविक था।

मनमुटाव का एक और भी बड़ा कारण था। गंगा नदी के किनारे का वह भाग जहां आगे जाकर बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र (पटना) नगर बसाया था, उसकी तटवर्ती भूमि विवादास्पद थी। उस पर लिच्छवियों तथा मागधों का मिला-जुला अधिकार था। उस तट पर व्यापाराना माल-असबाब से भरी हुई बड़ी-बड़ी नौकाएं लगती थीं। बिक्री के लिए आया हुआ बहुत-सा सामान यहीं उतरता था और यहां का उत्पादन आगे जाने के लिए उन नौकाओं पर यहीं चढ़ाया जाता था। माल-असबाब आने और जाने पर सरकार की ओर से चुंगी लगती थी। यहां आने वाली नौकाएं घड़े भर-भर कर सुगंधित द्रव्य भी लाती थीं, जो कि कुछ यहां बिकते थे, कुछ आगे बिकते थे और कुछ पूर्व में ताम्रलिप्ति बंदरगाह से समुद्री मार्ग द्वारा विदेशों में जा कर बिकते थे, जिनके बहुत ऊंचे दाम उठते थे। ऐसे कीमती सामानों पर चुंगी बहुत अधिक थी। प्रचलन वहां का यह था कि किसी भी सामान पर लिच्छवियों ने कर ले लिया तो मागध दुबारा नहीं ले सकते थे और मागधों ने ले लिया तो लिच्छवी दुबारा नहीं ले सकते थे। लिच्छवी गणतंत्र के अधिकारी अधिक चुस्त और मुस्तैद थे। वे बहुत सुबह ऊषाकाल में ही तट पर आ बैठते थे। मगध के अधिकारी सुस्त होने के कारण देर से पहुँचते थे। अतः बहुत से माल पर लिच्छवियों को ही चुंगी मिल जाती थी, मागधी हाथ मलते रह जाते थे। यह भी दोनों के द्वेष-दौर्मनस्य का एक बहुत बड़ा कारण था।

बिंबिसार की मागधी सेना बहुत विशाल थी। बिंबिसार स्वयं भी अत्यंत रण-कुशल योद्धा था। इसीलिए सेनीय बिंबिसार कहलाता था। उसने अपने राज्यकाल में अंगराज से युद्ध करके उस जनपद को अपने अधीन कर लिया था। इसके अतिरिक्त उसने और किसी जनपद पर आक्रमण नहीं किया था। अन्य देशों के साथ सदा मैत्री संबंध बनाए रखने की ही उसकी कुशल नीति थी। उसके पुत्र अजातशत्रु ने लिच्छवियों से युद्ध करके उन्हें जीत लिया था, पर बिंबिसार ने उनसे कभी युद्ध नहीं किया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि लिच्छवियों की सेना का आचार्य महाली उसका मित्र था जो कि समय-समय पर राजगृह आकर उससे अपने स्नेह-संबंध बनाए रखता था।

बोधि प्राप्त करने के पश्चात वाराणसी में धर्मचक्र प्रवर्तन करके गया होते हुए जब भगवान बुद्ध पहली बार राजगृह आए और बिंबिसार को इसकी सूचना मिली, तब वह अपने मित्रों, राज्याधिकारियों तथा नगर के प्रमुख नागरिकों के साथ भगवान की अगवानी के लिए लट्ठिवन के सुप्रतिष्ठित चैत्य पर गया, जहां भगवान ठहरे हुए थे। उस समय बिंबिसार का मित्र धनुर्विद्याचार्य लिच्छवी महाली भी राजगृह आया हुआ था। अतः उन अनेक लोगों के साथ वह भी भगवान की अगवानी के लिए गया। वहां भगवान के उपदेश सुन कर महाली को भी जो आंतरिक अनुभूति हुई उससे स्रोतापन्न लाभी हुआ। इसे प्राप्त कर वह निहाल हो उठा था और भगवान बुद्ध का परम श्रद्धालु उपासक बन गया था। इस अनमोल उपलब्धि के लिए अपने मित्र बिंबिसार का चिर ऋणी भी।

इस घटना के पश्चात शीघ्र ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई कि सारे वज्जि प्रदेश में भीषण अकाल पड़ा। अकाल पिछले वर्ष भी पड़ा था परंतु इस वर्ष वर्षा हो जाने की बड़ी आशा थी। लेकिन दूसरे वर्ष भी अकाल पड़ने के कारण भीषण तबाही मची। भूख के मारे गांव, नगर सभी जगह हाहाकार मच गया। चारे के अभाव में बहुत बड़ी संख्या में पशुधन नष्ट हुआ। अनेक मनुष्य भी भूख के मारे तड़प-तड़प कर मरने लगे। अकाल के साथ-साथ अनेक प्रकार की भयंकर महामारियां भी फैल गयीं। इस कारण लोगों की समस्या और अधिक बढ़ गयी, परंतु कोई चारा नहीं था। कोई इलाज नहीं था। समृद्धि की विशालता लिए हुए प्रसिद्ध राजनगरी वैशाली का भी बुरा हाल था। अनेक नागरिक वैशाली छोड़ कर पड़ोसी प्रदेशों में शरण लेने के लिए भाग गए थे। मोहल्ले के मोहल्ले सुनसान हो गए थे। नगर की वीथियां ही नहीं, सभी जनपथ, वाणिज्यपथ, राजपथ जो कि सदा जनाकीर्ण रहा करते थे, वे अब

जनशून्य हो गए थे। जगह-जगह पशुओं के शव पड़े सड़ रहे थे। कहीं-कहीं लावारिश मनुष्यों के भी इक्के-दुक्के शव पड़े सड़ रहे थे। गीध, चील और कौवे उन्हें नोच रहे थे। कोई उन्हें उठाने वाला भी नहीं था। सारा नगर दुर्गंध के प्रदूषण से दूषित हो उठा था। जो थोड़े से लोग नगर में बचे थे उनको अपनी जान के लाले पड़े हुए थे। नगर की सफाई की ओर कौन ध्यान देता ? दुर्गंधभरे प्रदूषण से जिनका तालमेल बैठता है वैसे प्रेतप्राणी भी वहां खिंचे चले आए। दुर्भिक्ष और महामारी के साथ-साथ इन पैशाचिक प्राणियों के उपद्रवों से भी नागरिक अत्यंत भयभीत थे, संतापित थे, संत्रस्त थे और असहाय थे। लोगों पर मानो दुःखों का पहाड़ टूट पड़ा था और कहीं कोई सहायक भी नहीं दीख रहा था। संथागार में संसद की बैठकें होती थीं, पर किसी को इस भयंकर समस्या का कोई समाधान नहीं सूझ रहा था। कई प्रजाजन सांसद राजाओं पर दोषारोपण करते थे। कहते थे उनके किसी दोष के कारण प्रजा इतनी त्रस्त हुई है। सांसद हर प्रकार का प्रायश्चित करने को तैयार थे। कहीं अनजाने में कोई दोष हो गया हो तो उसका प्रक्षालन हो। इस निमित्त सब के सुझाव स्वीकार करते थे। कभी कोई किसी चैत्य के देवता को बलि चढ़ा कर प्रसन्न करने का परामर्श देता था तो कभी कोई अमुक कर्मकांड पूरा करने का अथवा किसी पुजारी को बुला कर उसके द्वारा पूजा पाठ करवाने का अथवा कोई निरामिष होम या सामिष यज्ञ करवाने का परामर्श देता था। यों एक-एक करके सबके सुझावों का प्रयोग कर लेने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। अनेक साधु-संत और बड़े नामी-गिरामी महंत-महात्मा भी इस दुरावस्था में कुछ नहीं कर सके।

ऐसे समय आचार्य महाली को भगवान बुद्ध की याद आयी। उनके सान्निध्य में उसे कितनी अपूर्व शीतल शांति की अनुभूति हुई थी। यदि वे वैशाली पधारें तो उनके विमल विमुक्त चित्त से निकली हुई करुणा की किरणें वैशाली के संतप्त लोगों को मानसिक शांति अवश्य देंगी। यह सोच कर उसने संसद को परामर्श दिया कि राज्य की ओर से भगवान बुद्ध को वैशाली पधारने के लिए आमंत्रित किया जाय। संसद की स्वीकृति मिली। महाली ने राजगृह जाने का निश्चय किया।

महाली प्रसिद्ध धनुर्विद्याचार्य था। तक्षशिला का स्नातक था। वैशाली के धनुर्धारी सैनिकों एवं सेनानियों को धनुर्विद्या की शिक्षा देता था। अचूक निशाना लगाने के लिए आंखों का प्रमुख प्रयोग होता है। उनका अत्यधिक प्रयोग करते-करते महाली ने अपनी दोनों आंखें खो दी थी। लेकिन फिर भी वह इस विद्या के अनेक गुर जानता था, जिन्हें आंख खो देने पर भी यह

लिच्छवियों को सिखाता था। वे भी उसका बहुत उपकार मानते थे और उसे बहुत सम्मान देते थे। उसके लिए वैशाली नगर के पश्चिमी दरवाजे के पास सारी सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण एक निवास स्थान बनवा दिया था। यहीं वैशाली से श्रावस्ती तक का महापथ जाता था। उस दरवाजे से जो भी आता-जाता, उस पर एक छोटा कर लगाने की उसे छूट दे दी गयी थी। उस छोटे से कर से उसे अच्छी आमदनी हो जाती थी। अंधा था इसलिए जहां कहीं भी आना-जाना होता, अपने साथ किसी एक सहायक को ले जाया करता था। अब उसे राजगृह जाना था और गणतंत्र की ओर से जाना था। अतः उसने राजपुरोहित के पुत्र को अपने साथ ले लिया।

वह एक प्रमुख राजपुरुष था। अतः राजकीय रीति-रिवाजों को खूब समझता था। उसने सीधे भगवान के पास जाकर उन्हें निमंत्रण देना उचित नहीं समझा। यद्यपि वह जानता था कि भगवान को कहीं भी आने-जाने के लिए मगधराज से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है लेकिन फिर भी मगधराज का सम्मान बढ़ाने के लिए वह उन्हीं के पास गया। लिच्छवियों ने जो भेंट भेजी थी, उसे पुरोहित के पुत्र ने बिंबिसार को अर्पित की। तदनंतर महाली ने अपने आने का उद्देश्य प्रकट किया। उसने मगधराज को वैशाली की वर्तमान दुरावस्था बतायी और कहा कि वह भगवान बुद्ध को आमंत्रित करने आया है। मगधराज ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा कि वे भगवान बुद्ध के पास स्वयं जा कर उनसे प्रार्थना करें। भगवान महाकारुणिक हैं। अवश्य स्वीकार कर लेंगे। इसके लिए मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं थी। तुम्हें वहीं जा कर उनसे मिलना चाहिए।

महाली को तो औपचारिकता पूरी करनी थी। बिंबिसार को धन्यवाद देकर वह पुरोहितपुत्र के साथ भगवान बुद्ध के पास गया। वहां उसने वैशाली की वर्तमान दुःखद स्थिति का वर्णन किया और भगवान से प्रार्थना की कि भले चंद दिनों के लिए ही सही, वे एक बार वैशाली अवश्य पधारें। इससे लोगों को सांत्वना मिलेगी, शांति मिलेगी। भगवान ने मौन रह कर स्वीकृति दी।

महाली प्रसन्न हुआ। उसने यह शुभ संदेश वैशाली पहुँचाया और इसकी सूचना बिंबिसार को देने के लिए स्वयं उसके पास गया। बिंबिसार भी अत्यंत प्रसन्न हुआ। परंतु उसके मन में एक चिंता जागी। गर्मी के दिन हैं। राजगृह से गंगातट तक का मार्ग पांच योजन लंबा है। भगवान को इस यात्रा में कोई कष्ट न हो, इसका उसने पूरा-पूरा प्रबंध करवाया। भगवान दो दिन बाद प्रस्थान करने वाले हैं, अतः कई मजदूर लगा कर

सारे मार्ग को साफ करवाया। उस पर पड़े कंकर-पत्थर हटवाए। जहां-जहां आवश्यकता हुई वहां-वहां बालू भी बिछवा दी। एक-एक योजन की दूरी पर विश्राम करने के लिए मंडप छवा दिए। गेंदे के फूल और आम की बंदनवार बँधवा दी। शीतल जल से भरे घड़े रखवा दिए।

भगवान बुद्ध के साथ वह स्वयं गंगा तट तक गया। वहां उसने दो बड़ी नौकाओं को जोड़ कर उनकी सुखद यात्रा का प्रबंध करवा रखा था। भगवान सहित उनके पांच सौ भिक्षुओं को उन युग्म नौकाओं पर बने मंच पर बैठा कर वह स्वयं गंगा नदी में उतरा और गले-गले तक पानी में जाकर हाथ जोड़ कर भगवान को बिदाई देते हुए बोला– भगवान, आप शीघ्र लौटिएगा। तब तक मैं इसी तट पर रह कर आपकी प्रतीक्षा करता रहूंगा।

उन दिनों किसी महत्त्वपूर्ण मेहमान की नदी तट पर अगवानी करनी होती तो भी और उसे बिदाई देनी होती तो भी गले-गले तक पानी में उतर कर उसे सम्मान पूर्वक अगवानी और बिदाई दी जाती थी। महाराज बिंबिसार ने यही किया। इस यात्रा में भगवान को रंच भर भी कष्ट न हो, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा। भगवान के प्रति उसके मन में असीम आदरभाव था। काशी, मगध और अंग देश का एकछत्र शक्तिशाली सम्राट होते हुए भी, जिनसे उसे धर्मरत्न मिला था उन भगवान बुद्ध के प्रति वह अत्यंत विनम्रभाव से झुक गया था। उसका सारा अहं पिघल गया था। धर्म के प्रति और धर्मराजा भगवान बुद्ध के प्रति उसके मन में अमित कल्याणी श्रद्धा जागी थी। यह असीम श्रद्धा उसके लिए अत्यंत मंगल फलदायिनी थी।

धन्य हुई वैशाली

तथागत सहित पांच सौ भिक्षुओं को लिए हुए विशाल जुड़वां नौकाएं गंगा नदी पार करती हुई उत्तरी तट पर स्थित लिच्छवियों की गणतंत्र भूमि की ओर मंथर गति से बढ़ने लगी। जब मगध का तट छोड़ा तो आकाश निरभ्र था। बादल का एक छूंछा भी कहीं नहीं दीख रहा था। परंतु गंगा की मध्य धारा को पार करते-करते आकाश में बादल छाने लगे। अगले तट के समीप पहुँचते-पहुँचते सारा आसमान घने काले बादलों से भर उठा। अपराह्न का सूर्य इस घन-घटा के पीछे छिप गया। घनीभूत मेघमाला की गुरु-गंभीर गड़गड़ाहट और विद्युत-तड़िता की तीव्र-तेज कड़कड़ाहट से सारा नभोमंडल गुंजायमान हो उठा। यदा-कदा चकाचौंध कर देने वाली बिजली कौंध उठती तो गंगा की लहरों में उसकी चमक-दमक प्रतिबिंबित हो उठती। ऐसे

वातावरण में नाव धीरे-धीरे परले तट के समीप पहुँच रही थी। जैसे महाराज बिंबिसार ने गले-गले तक पानी में प्रवेश कर भगवान को विदाई दी वैसे ही वैशाली गणराज्य के राजाओं ने गले-गले तक पानी में उतर कर भगवान की अगवानी की। तट पर विपुल जनसमुदाय रंग-बिरंगी ध्वज-पताकाएं लिए हुए, फूल मालाओं और पुष्प-पंखुड़ियों से भरे थाल लिए हुए स्वागत के लिए उपस्थित था। आकाश में मेघावलियों का घनघोर गर्जन और रह-रह कर बिजली की कौंध-कड़कन अकाल पीड़ित नागरिकों के मुरझाये मानस में आनंद की लहरें उद्वेलित कर रही थीं। भिक्षु-संघ सहित भगवान ने नौका पर से अवरोहण किया। तट पर पांव रखते ही मुसलाधार वर्षा होने लगी। जनता की जयजयकार की तुमुल ध्वनि सारे वायुमंडल में थिरक उठी। वर्षा में भीगते हुए लोग ढोल-मजीरे बजाने लगे, हर्ष-विभोर होकर नाचने-गाने लगे। उन दिनों की खुशियां प्रकट करने की प्रथा के अनुसार कई लोग अपने उत्तरीय (दुपट्टे) हवा में उछालने लगे। कई लोग अपनी अंगुलियां चिटकाने लगे या चुटकियां बजाने लगे; जैसे कि आजकल लोग तालियां बजा कर अपना हर्ष प्रकट करते हैं। ऊपर अंबर में बादल और बिजली की गर्जन-तर्जन तथा नीचे अवनि पर धाराप्रवाह वर्षा की रिमझिम-रिमझिम के साथ-साथ हर्षोत्फुल्ल जनसमूह का वादन-गायन और तथागत के प्रति अभिवादन के समवेत नारे सब मिला कर बड़ा ही भव्य समां बँध गया था। महाकारुणिक भगवान बुद्ध के साथ-साथ चिरप्रतीक्षित वर्षा के आगमन पर स्वागत का समारोह वायुमंडल को उमंग और उल्लास से आप्लावित कर रहा था। नौका से अवरोहण करते ही लिच्छवी राजाओं सहित सारा जनसमूह भगवान के चरणों में सश्रद्ध झुक गया।

उमड़ते हुए हर्षोल्लास के साथ सभी लोग भगवान और भिक्षु-संघ के पीछे-पीछे तीन योजन दूर वैशाली राजनगरी की ओर चल पड़े। जैसे महाराज बिंबिसार ने राजगृह से गंगातट तक के पांच योजन मार्ग को साफ-सुथरा करवा कर एक-एक योजन की दूरी पर विश्राम की व्यवस्था कर दी थी, उससे कहीं अच्छी व्यवस्था लिच्छवी राजाओं ने की।

यों तीन दिन की पदयात्रा पूरी करके वैशाली के नगर-द्वार के समीप विश्रामगृह में भगवान रुके। उन्होंने कुछ भिक्षुओं सहित आनन्द को तिहरी प्राचीरों से घिरी हुई वैशाली नगरी की परिक्रमा करते हुए रत्नसूत्र का परित्राण पाठ करने का आदेश दिया। दूसरे दिन भगवान ने नगर में प्रवेश किया। लिच्छवी राजा भिक्षु-संघ सहित उन्हें गणतंत्र के संथागार (संसद भवन) ले गये। वहां भगवान एक ऊंचे धर्मासन पर विराजमान हुए। उनके पीछे भिक्षु-संघ

आदरपूर्वक आसीन हुआ। भिक्षु आनंद भगवान के समीप एक नीचे आसन पर बैठ गये। सामने वैशाली गणतंत्र का गणाधिपति, उसके समीप वैशाली का सेनापति तथा गणराज्य के अन्य राजागण विनीतभाव से बैठ गये। उनके पीछे नगर के अन्य अनेक गण्यमान्य लोग आ बैठे। सारा जनसमुदाय शांतिपूर्वक बैठ जाने पर भगवान ने स्वयं रत्नसूत्र का सस्वर पाठ किया। भगवान की महामांगलिक निन्नादी वाणी सुन कर सभी लिच्छवियों ने श्रद्धावनत होकर उल्लासभरे शब्दों में तीन बार साधुकार द्वारा हर्षानुमोदन किया।

जब भगवान गंगा के लिच्छवी तट पर उतरे तब वहां जो घनघोर वर्षा हुई, वह वैशाली नगरी तक नहीं पहुँची। लेकिन जब भगवान ने रत्नसूत्र का पाठ पूरा किया तो मेघगर्जना के साथ वैशाली में भी उतनी ही घनघोर वर्षा हुई। सारे दिन और सारी रात इस अजस्र जलधारा ने नगर के घर-घर को, वीथियों और पथों को नहला-धुला कर स्वच्छ कर दिया। सारा कूड़ा-कर्कट नगर के बाहर दूर तक प्रवाहित हो गया। वर्षा की वेगवती जलधारा के साथ नगर की सारी गंदगी ही नहीं बल्कि सारी दुर्गंध भी बह गयी। और उस गंदगी के प्रदूषण से उत्पन्न हुए सारे रोग बह गये। दुर्गंध से आकर्षित होकर एकत्र हुए अदृश्य प्रेत-प्राणी पलायन कर गये। वैशाली उस दुर्भाग्यपूर्ण दुर्भिक्ष की भीषण विभीषिका से विमुक्त हुई। प्राणियों के कालस्वरूप फैली हुई महामारी के प्रबल प्रकोप से विमुक्त हुई और प्रेतप्राणियों के उपद्रव-उत्पातों से विमुक्त हुई। त्रिविध व्यथा से पीड़ित, संतापित प्रजा पुनः सुख, शांति और समृद्धि का जीवन जी सकने की आशान्वित धन्यता के वातावरण से उल्लसित हो उठी।

नगरनिवासियों ने सारी राजधानी में सुगंधित जल का छिड़काव किया और उसे सुंदर सुमन मालाओं से सुसज्जित किया। भगवान वैशाली नगरी में पंद्रह दिनों तक विराजमान रहे। इस बीच उन्होंने राज्य परिषद और जनता के सम्मुख कई बार रत्नसूत्र दोहराया और कल्याणकारिणी धर्मदेशनाएं दी। यों वैशाली राजनगरी को अपनी मंगलवाणी से पावन कर लौटते हुए भगवान तीन दिनों की पदयात्रा करके गंगा नदी के उत्तरी तट पर पहुँचे। वहां लिच्छवी राजाओं ने गले-गले तक पानी में उतर कर भगवान को विदाई दी। दक्षिणी तट पर महाराज बिंबिसार ने उनका भव्य स्वागत किया। पांच दिन पांच योजन मार्ग पर चल कर भगवान राजगिरि पहुँचे।

जब भगवान वैशाली गये थे तब वहां केवल महाली ही उनका एकमात्र श्रद्धालु शिष्य था जो कि स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त कर चुका था। परंतु अब भगवान के वैशाली विहार के दौरान अनेक लोगों को यह अवस्था प्राप्त हुई

और सारी वैशाली नगरी भगवान की असीम करुणा से प्रभावित होकर उनके प्रति श्रद्धासिक्त हो उठी।

स्वयं भगवान ने तथा नगर की परिक्रमा करते हुए भिक्षु आनंद ने जिस रत्नसूत्र का पाठ किया, आओ, उसे समझें। क्या है यह सूत्र और क्या है इसकी विशेषता? इस सूत्र के प्रत्येक पद के अंतिम चरण में सत्यक्रिया का मंगलघोष है यानी सत्यवचन के प्रताप से जन-मंगल का आह्वान है। जिसके बोल हैं–

एतेन सच्चेन सुवत्थि होतु,

अर्थात *इस सत्य वचन से स्वस्ति हो! मंगल हो! कल्याण हो!*

कोई भी संत व्यक्ति लोक-कल्याण के लिए अपने निर्मल चित्त से किसी सत्य की घोषणा करते हुए मंगल कामना प्रकट करता है तो वह कामना फलीभूत होती ही है।

क्या थे ये सत्य वचन, जिनके मंगलघोष से व्याकुल, व्यथित वैशाली नगरी सुखद शांति से लाभान्वित हुई?

रत्नसूत्र में बुद्धरत्न, धर्मरत्न और संघरत्न की सच्चाई का उद्घोष किया गया था।

बुद्ध में, धर्म में और संघ में जो सद्गुण हैं वे ही उनमें समाये हुए उत्तम रत्न हैं।

क्या सद्गुण हैं बुद्ध में, जो रत्नस्वरूप हैं? रत्न भी ऐसे सर्वोत्तम कि जिनकी तुलना में यहां के, वहां के, लोक के, परलोक के सभी रत्न फीके पड़ जाते हैं?

बुद्ध इसीलिए बुद्ध हैं कि उन्होंने सभी पारमिताओं को परिपूर्ण करके अपने ही पराक्रम और पुरुषार्थ द्वारा उस नित्य, शाश्वत, ध्रुव, इंद्रियातीत, लोकातीत निर्वाणिक परम सत्य का साक्षात्कार किया जो कि सर्वोत्तम है। जो सम्यक संबोधि प्राप्त की, वह भी सर्वोत्तम है। न इस भवमुक्त अवस्था से ऊंची कोई अन्य अवस्था है और न इस सम्यक संबोधि से ऊंची कोई अन्य बोधि। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए जिस विलुप्त हुए मुक्तिमार्ग को बुद्ध ने खोज निकाला उससे उत्तम अन्य कोई मार्ग भी नहीं है। और फिर जिस करुण चित्त से उसे आख्यात किया, जिस पर चल कर अनेक लोग लाभान्वित हुए और उसी भवमुक्त अवस्था तक पहुँच सके, भगवान की ऐसी अनुत्तर करुणा से बढ़ कर अन्य कोई करुणा भी नहीं। बुद्ध ने लोगों को ऐसा कल्याणकारी धर्म दिया जिसे धारण करता हुआ व्यक्ति उसी प्रकार सतत ऊर्ध्वगामी होता हुआ निर्वाण की ओर अग्रसर होता है जिस

प्रकार बसंत ऋतु के आरंभ में वृक्षों के शिखर की शाखाएं, उपशाखाएं ऊपर की ओर उठती हैं। ऐसे परम हितकारी धर्म का प्रकाशन बुद्ध का सद्गुण है। ऐसा सर्वोत्तम, प्रणीत रत्न भी बुद्ध में समाया हुआ है।

सूत्र में धर्म में समाये हुए रत्नों की भी विस्तृत व्याख्या की गयी है। समाहितचित्त शाक्यमुनि ने उस वीतरागजन्य निर्वाणिक अमृत अवस्था को अधिगत किया, जहां सारे विकार क्षय हो जाते हैं। उस लोकोत्तर अवस्था रूपी रत्न के समान अन्य कोई रत्न नहीं है। उससे बढ़कर तो कुछ होता ही क्या ?

बुद्धपूर्व के भारत में आठों ध्यान समापत्तियां (समाधियां) उपलब्ध थी। परंतु उनसे भव-मुक्ति की **अञ्ञा** यानी लोकोत्तर अरहंत अवस्था प्राप्त नहीं होती। केवल अरूप ब्रह्मलोक की भवाग्र अवस्था ही प्राप्त होती है। भगवान बुद्ध ने स्वयं खोज कर जो लोकातीत अवस्था प्राप्त कर सकने की विपश्यना विधि उसमें जोड़ी, उससे लोकीय ध्यान समापत्ति के साथ-साथ लोकोत्तर फल समापत्ति भी उपलब्ध हो सकी। यह ऐसी समाधि अवस्था है जिसमें बिना किसी अंतर के याने उसके साथ-साथ **अञ्ञा** की फल समापत्ति भी प्राप्त होती है। श्रेष्ठ बुद्ध ने इसे परम पवित्र समाधि कहा। इसके समान कोई अन्य समाधि नहीं है। धर्म में यह भी एक अनमोल, अनुत्तर गुण रत्न है।

धर्म ऐसा जिसमें शील, समाधि और प्रज्ञा के कल्याणिक समन्वय का पर्यवसान भव-विमुक्ति प्रदायक निर्वाणिक सत्य के साक्षात्कार में होता है। आठवें ध्यान की लोकीय समापत्ति भवाग्र लोक में जन्म देने पर भी सारे पूर्वसंचित भवसंस्कार नष्ट न हुए होने के कारण पुनः अधोगति की ओर ले जाती है। परंतु इस संपूर्ण भव-विमुक्त निर्वाण की अरहंत फल समापत्ति का साक्षात्कार होने पर पुनर्भव नहीं हो सकता। इससे प्रणीततर रत्न और क्या होगा ? इससे प्रणीततर समाधि और क्या होगी ?

ऐसे अनुपम अनुत्तर धर्म रत्न के अभ्यास द्वारा यदि केवल एक बुद्ध ही भवमुक्त अवस्था प्राप्त करके रह जाते तो यह भ्रम उत्पन्न हो सकता था कि यह विद्या वैज्ञानिक नहीं है। किसी अदृश्य शक्ति की कृपा पर अवलंबित है। परंतु महाकारुणिक बुद्ध ने इसे मुक्त हस्त से सभी मुमुक्षुओं को बांटा और अभ्यास करने वालों में से अनेकों ने इसी धर्म-विधि द्वारा अरहंत फल समापत्ति की वही मुक्त अवस्था प्राप्त की। तभी यह सर्वजनहितकारी, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम वैज्ञानिक विद्या कहलायी। यह विद्या भी धर्म में समाया हुआ अनमोल गुण-रत्न है।

इसी प्रकार संघ में समाये हुए गुण रत्न भी अनमोल हैं। भिक्षु,

भिक्षुणी, उपासक और उपासिका संघ– यों संघ चार होते हैं। वैसे तो धर्म के सुमार्ग पर, ऋजु मार्ग पर, न्याय मार्ग पर और समुचित मार्ग पर चलने वाले श्रावक संघ ही कहलाते हैं। पर तथागत के वास्तविक श्रावक संघ तो वे ही हैं जो अनार्य से आर्य हो गए हैं। ऐसा श्रावक मार्ग-क्षण और फल-क्षण का एक जोड़ा कहलाता है। क्योंकि उसे मार्ग के साथ-साथ अगले ही क्षण फल-समापत्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार के मार्ग-फल के जोड़े भी चार होते हैं। यथा स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अंततः अरहंत मार्ग-फल प्राप्त का जोड़ा। ये चारों साधक सुगत के आर्य श्रावक संघ कहलाते हैं। ये सभी संतों द्वारा प्रशंसित होते हैं।

जैसे कि चंपा, बकुल आदि फूलों में जन्म के साथ ही सौंदर्य और सुगंध उत्पन्न होती है वैसे ही आर्य अवस्था प्राप्त होते ही इनमें साथ-साथ गुणरत्न उत्पन्न होते हैं। ये चारों जोड़े क्रमशः अधिक से अधिक शुद्ध चित्त होने के कारण इनके जीवनयापन के लिए भोजन, चीवर आदि का जो दान दिया जाता है उस पुण्यबीज के लिए ये महाफलदायक उत्तम पुण्यक्षेत्र होते हैं। यह भी उनका एक अनुत्तर गुणरत्न है।

अनार्यों की अपेक्षा ये आर्य निश्चित रूप से महत्तर हैं, महान हैं क्योंकि इनकी भवविमुक्ति सुनिश्चित है। इन आर्यों में पहले तीन **सेक्ख** (शैक्ष्य) कहलाते हैं। यद्यपि उन्होंने अमृत चख लिया है तथापि पूर्णतया भवविमुक्त होने के लिए अभी उन्हें कुछ और सीखना बाकी है। परंतु चौथे आर्य जो अरहंत हैं वे पूर्णतया भवविमुक्त हो चुके। उन्हें कुछ और सीखना नहीं रह जाता। अतः वे **असेक्ख** (अशैक्ष्य) कहलाते हैं। **सेक्ख** में सबसे कनिष्ठ हैं– **स्रोतापन्न**। ये भी तीन प्रकार के होते हैं।

एकबीजी– वे जो केवल एक बार जन्म लेकर और

कोलङ्कोलो– जो दो या तीन बार जन्म लेकर भवमुक्त हो जायेंगे।

सत्तक्खत्तुपरमो– वे हैं जो सात बार संधावन, संसरण करते हुए भवमुक्त होंगे।

यह जो तीसरे कनिष्ठतम आर्य हैं, वे भी विशिष्ट सद्गुण-रत्नों से संपन्न हैं। गंभीरप्रज्ञ भगवान बुद्ध द्वारा प्रदर्शित दुःख, समुदय, निरोध और मार्गरूपी चारों आर्य सत्यों को भली-भांति अनुभवित कर लेने के कारण ये कनिष्ठतम आर्य कभी किसी जीवन में यदि भारी प्रमाद में पड़ जायँ तो भी आठवां जन्म ग्रहण नहीं कर सकते। सात जन्मों में उनकी भव-संसरण धारा दुर्बल होते-होते क्षय को प्राप्त हो ही जाती है। कनिष्ठतम आर्य संघ का यह भी एक उत्तम गुण-रत्न है।

ऐसा व्यक्ति परम सत्य निर्वाण का प्रथम साक्षात्कार करके जब मुक्ति के स्रोत में पड़ कर स्रोतापन्न बनता है तो उसके तीन बंधन तत्क्षण टूट जाते हैं।

(१) सत्काय दृष्टि– देह और चित्त का संपूर्ण अनित्यधर्मा क्षेत्र स्वानुभूति पर उतार लेने के कारण उसके प्रति भ्रामक आत्मबुद्धि स्वतः नष्ट हो जाती है।

(२) विचिकिच्छा– मुक्तिपथ पर चलते-चलते मुक्तिफल का स्वयं आस्वादन कर लेने के कारण मार्ग और मार्गदाता के प्रति संदेह होने का कोई कारण नहीं रह जाता।

(३) शीलव्रतों के प्रति आसक्ति– मुक्तिफलदायी मार्ग के अभाव में मानव किसी एक शील अथवा व्रत को उपहासास्पद अवस्था तक खींच कर उसे कर्मकांड बना लेता है और उसी से मुक्ति प्राप्त करने की मिथ्या मान्यता के प्रति आसक्त होता है। परिणामतः मुक्तिपथ के अन्य सभी अंगों की नितांत अवहेलना करता है। लेकिन मुक्ति तक का सारा मार्ग स्वानुभूति पर उतार लेने के बाद इस पथ के प्रत्येक अंग का महत्त्व भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। अतः किसी भी एक अंग के प्रति आसक्त हो जाने की नासमझी स्वतः नष्ट हो जाती है।

ऐसा स्रोतापन्न व्यक्ति चारों अधोगतियों से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है क्योंकि विपश्यना द्वारा इन दुर्गतियों के सभी भवकर्म-संस्कार नष्ट कर लेने पर ही निर्वाण का प्रथम साक्षात्कार कर पाता है और तदनन्तर अधोगति का ऐसा कोई संस्कार बना सकना उसके लिए असंभव हो जाता है। वह ऐसे दूषित स्वभाव-शिकंजे की गिरफ्त से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है। उसमें यह भी एक उत्तम गुण-रत्न है।

ऐसा स्रोतापन्न व्यक्ति छः प्रकार के जघन्य दुष्कर्म कर ही नहीं सकता – (१) मातृहत्या, (२) पितृहत्या, (३) अरहंतहत्या, (४) किसी बुद्ध पर आघात, (५) संघ में फूट डालना, और (६) किसी अज्ञानी आचार्य का अनुगमन उसके लिए अशक्य हो जाता है।

ऐसा स्रोतापन्न व्यक्ति यदि प्रमादवश काया, वाणी या चित्त से कभी कोई दुष्कर्म कर भी ले तो उसे छिपा नहीं सकता। स्वभावतः उसे अनावरित कर देता है और भविष्य में ऐसा दुष्कर्म न करने का दृढ़ संकल्प करता है। उसमें यह भी एक उत्तम गुण-रत्न है।

ये सब तो एक कनिष्ठतम आर्य-श्रावकसंघ के गुण-रत्न हैं। परंतु एक पर एक अधिक ऊंची अवस्था को पार करते हुए जो अशैक्ष्य अरहंत अवस्था तक पहुँच गये, उनके गुण-रत्नों का तो कहना ही क्या!

वे तो गौतम बुद्ध के आदेशानुसार दृढ़चित्त होकर, पराक्रम-पुरुषार्थ करते हुए कृतकृत्य हो गये, प्राप्तव्य-प्राप्त हो गये। वे अमृत अवस्था में गहरे पैठ कर, नितांत भवविमुक्त हो, विमुक्ति रस का आस्वादन करने लगे।

ऐसे भव-विमुक्त सत्पुरुष सभी परिस्थितियों में वैसे ही नितांत निष्कंप रहते हैं जैसे कि नगर के द्वार पर गहरा गाड़ा हुआ स्तंभ चारों ओर के झंझावातों के घात-प्रतिघातों से कंपायमान नहीं होता। (उन दिनों ऐसे अकम्प्य स्तंभों को इंद्र-कील कहते थे, जिसका कि एक नमूना आज कुतुब मीनार के पास लौह-स्तम्भ के रूप में गड़ा हुआ है।)

ऐसे अरहंतों के सारे पुराने भव-कर्म क्षीण हो गये, फल देने लायक नहीं रहे। अब वे नया भवकर्म कर नहीं सकते। वे क्षीणबीज हो गये। उनका चित्त पुनर्जन्म से सर्वथा विरक्त हो गया। उनकी सारी तृष्णाएं समाप्त हो गयीं। शरीर छूटने पर वे इसी प्रकार परिनिवृत्त हो जाते हैं जैसे कि तेल और बाती समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है।

यह भी संघ में उतम रत्न है।

एतेन सच्चेन सुवत्थि होतु।

– *इस सत्य वचन से स्वस्ति हो! कल्याण हो! मंगल हो!*

इस महत्त्वपूर्ण सूत्र के पारायण से एक बात और स्पष्टतया उभर कर आती है कि तीन रत्नों की शरण किसी संप्रदाय में दीक्षित होने के लिए नहीं होती। शरण व्यक्ति की नहीं, व्यक्ति के सद्गुणों की है। बुद्ध की शरण माने बुद्ध में समाये हुए सद्-गुणों की शरण। धर्म की शरण माने धर्म में समाये हुए सद्-गुणों की शरण। संघ की शरण माने संघ में समाये हुए सद्-गुणों की शरण। सद्गुण ही रत्न हैं और रत्नों की ही शरण है। यह त्रिरत्न-शरण हमें इस बात की प्रेरणा देती है कि हम भी ऐसे सद्गुण अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते रहें। इसी में हमारा मंगल है, कल्याण है। इसी में हमारी सही माने में स्वस्ति है। इसी में सबका मंगल है कल्याण है। सबकी सही माने में स्वस्ति है।

१२. अनाथपिंडिक

बुद्ध दर्शन

– श्रेष्ठि, क्या तुमने 'बुद्ध' कहा ?

– हां, अनाथपिंडिकजी, मैंने बुद्ध ही कहा।

– श्रेष्ठि, तो क्या संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं ?

– हां, अनाथपिंडिकजी, संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं।

– और श्रेष्ठि, तुम यह कहते हो कि कल प्रातःकाल विशाल भिक्षु-संघ सहित बुद्ध तुम्हारे यहां भोजन पर पधारने वाले हैं ?

– हां, अनाथपिंडिकजी, ऐसा ही है।

उत्तर सुन-सुन कर अनाथपिंडिक का तन और मन पुलक-रोमांच से तरंगित हुए जा रहा था। श्रावस्ती का धनकुबेर अनाथपिंडिक आश्चर्यविभोर हो प्रश्न पर प्रश्न किये जा रहा था और राजगृह का धनपति, नगरश्रेष्ठि धनपाल अपने बहनोई के प्रश्नों का उत्तर दिये जा रहा था।

अनाथपिंडिक ने अपने ब्राह्मण पुरोहितों से सुन रखा था कि संसार में बुद्ध का उत्पन्न होना अत्यंत दुर्लभ है। उनके धर्मशास्त्रों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि किसी व्यक्ति के शरीर पर महापुरुष होने के बत्तीस लक्षण विद्यमान हों और वह गृहस्थ रहे तो महान शक्तिशाली, चक्रवर्ती सम्राट होता है परंतु यदि गृहत्यागी हो जाय तो परम ज्ञानसंपन्न, विवृत-कपाट सम्यक संबुद्ध बनता है जो कि स्वयं भवमुक्त होकर अनेकों को मुक्ति का मार्ग दिखाता है। इसके लिए उसे अगणित जन्मों तक त्याग-तपस्या की पुण्य पारमिताओं का असीम बल संचय करना पड़ता है जो कि आसान नहीं है। ऐसी घटना किसी-किसी कल्प में कभी-कभार घटती है। इसीलिए अनाथपिंडिक को विश्वास नहीं हो रहा था कि सचमुच संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं।

परंतु विश्वास कैसे न करता ? राजगृह के नगरश्रेष्ठि के साथ उसका साले-बहनोई का ही नाता नहीं था, दोनों एक-दूसरे के परम मित्र भी थे। वह उससे कदापि झूठ नहीं बोल सकता।

बातचीत के दौरान उसने यह भी जान लिया कि जो सम्यक संबुद्ध

हुए हैं, वे कोशलदेशीय, शाक्यवंशी राजकुमार सिद्धार्थ हैं जिन्होंने चक्रवर्ती सम्राट हो सकने के प्रबल प्रलोभन को त्याग कर घर छोड़ा और कठिन तप द्वारा बुद्धत्व प्राप्त किया है। उसने यह भी जाना कि अपने एक हजार शिष्यों सहित तीनों काश्यप बंधुओं ने इन्हें अपना आचार्य स्वीकार कर लिया है और इनके भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गये हैं। जो समस्त मगध, अंग और काशी में ही नहीं वल्कि अन्यत्र भी जन-पूज्य हैं, वे इनके शिष्य हो गये हैं; यह कोई साधारण बात नहीं है।

उसे यह भी जानने में देर नहीं लगी कि राजा बिंबिसार ने गृहत्यागी राजकुमार सिद्धार्थ को अपने विशाल राज्य में भागीदार बनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, परंतु असफल होने पर उनसे वचन लिया था कि बुद्धत्व प्राप्त हो जाय तो वे उसे और उसकी प्रजा को धर्म सिखाने के लिए राजगृह अवश्य पधारेंगे। इसी वचनबद्धता के कारण भगवान बुद्ध राजगृह आये हुए हैं और उनके उपदेश सुन कर स्वयं बिंबिसार ही नहीं बल्कि राजगृह के श्रेष्ठि और निगमपति सहित अनेकानेक गण्यमान्य राज्य-कर्मचारी, अधिकारी, साहिब-मुसाहिब, ब्राह्मण-पुरोहित, सेठ-साहुकार भगवान के करबद्ध, श्रद्धालु अनुयायी हो गये हैं।

एक अत्यंत व्यवहार-कुशल, अंतर्राष्ट्रीय व्यवसायपति होने के कारण और स्वयं कोशल की राजधानी श्रावस्ती का नगरश्रेष्ठि होने के कारण अनाथपिंडिक इस बात को खूब समझता था कि राजा का रुख देख कर उसे प्रसन्न रखने के लिए श्रेष्ठि तथा अन्य प्रजाजनों को वैसा ही रुख अपना लेना पड़ता है। राजा जिसे अपना धर्माचार्य मान लेता है, वे भी उसके भक्त होने का दिखावा करने लगते हैं। परंतु उसने देखा कि यहां ऐसी बात नहीं है। यह कोई दिखावा नहीं है। राजगृह का नगरश्रेष्ठि उसका अंतरंग मित्र है। दोनों में एक-दूसरे के प्रति अटूट स्नेह, विश्वास और आदर का भाव है। राजगृह का नगरश्रेष्ठि अपने व्यापार-व्यवसाय हेतु अथवा अन्य किसी पारिवारिक कारणों से जब श्रावस्ती जाता था तब अनाथपिंडिक उसकी आवभगत में, स्वागत-सत्कार में कोई कसर नहीं रखता था। इसी प्रकार जब अनाथपिंडिक राजगृह आता था तो नगरश्रेष्ठि दूर से ही उसकी अगवानी के लिए स्वयं पहुँच जाया करता था। नौकर-चाकर तथा अन्य स्वजन-परिजन हाथ बांधे उसकी सेवा में लग जाते थे। सबके लिए आकर्षण का केंद्र वही बन जाता था। परंतु इस बार ऐसा कुछ नहीं हुआ। उसके आगमन की सूचना पर नगरश्रेष्ठि न स्वयं दूर से उसका स्वागत करने आया और घर पहुँचने पर सामान्य कुशल-मंगल पूछने के अतिरिक्त न कोई अन्य बातचीत ही की; बल्कि वह अपने काम में व्यस्त हो गया, मानो उसके सिर पर कोई बहुत बड़ी जिम्मेदारी

आ पड़ी हो जिसे पूरा करने में वह तन-मन से लगा हुआ हो; मानो किसी बड़े आयोजन की तैयारी के लिए नौकर-चाकरों को उचित निर्देश दे रहा हो; उनके कार्यकलापों का स्वयं निरीक्षण कर रहा हो ताकि कहीं कोई त्रुटि न रह जाय; आयोजन की सफलता में कोई कमी न रह जाय। अनाथपिंडिक इस बात को खूब जानता है कि नगरश्रेष्ठि के साथ उसके आत्मिक संबंधों में कोई कमी नहीं आयी है। अतः इस अप्रत्याशित उपेक्षा का अवश्य ही कोई अन्य बड़ा कारण होगा। उस कारण को जानने के लिए अनाथपिंडिक ने उत्सुकतावश उससे प्रश्न किया था।

– बंधुवर, क्या तुम्हारे यहां कोई आवाह-विवाह का आयोजन है जिसमें इतने मशगूल हो, अथवा कोई बृहद यज्ञ होने वाला है, अथवा कल के लिए महाराज बिंबिसार को घर पर आमंत्रित कर रखा है, जिसकी तैयारी में इतने उलझे हुए हो ?

इसी प्रश्न के उत्तर में नगरश्रेष्ठि ने कहा था कि उसके यहां न किसी आवाह-विवाह का आयोजन है, न किसी बृहद यज्ञ का और न ही महाराज बिंबिसार उसके द्वारा आमंत्रित किये गये हैं; बल्कि सच्चाई यह है कि अपने सहस्राधिक भिक्षुओं सहित भगवान बुद्ध उसके यहां कल प्रातः भोजन के लिए आमंत्रित हैं। 'बुद्ध' शब्द सुनते ही वह आश्चर्यविभोर हो उठा था और एक बार नहीं; बल्कि तीन बार पूछ-पूछ कर इस सच्चाई को पुख्ता कर लिया चाहता था।

नगरश्रेष्ठि से हुई वार्त्तालाप द्वारा अनाथपिंडिक आश्वस्त हो गया कि बुद्ध सचमुच 'बुद्ध' हैं। उन्होंने झूठे प्रचार द्वारा अपने आपको बुद्ध घोषित नहीं किया है। उसका संबंधी नगरश्रेष्ठि धनपाल महाराज बिंबिसार को खुश रखने के लिए उनके आचार्य का श्रद्धालु शिष्य होने का ढोंग नहीं कर रहा है। यदि ऐसा होता तो वह अनाथपिंडिक के आदर-सत्कार की उपेक्षा करके भगवान के लिए हो रही भोजन की तैयारी में इस कदर स्वयं कदापि व्यस्त नहीं हो जाता।

गौतम बुद्ध सचमुच बुद्ध ही हैं। जो बुद्ध हैं, उनके दर्शन कल्याणकारी होते हैं। अतः उसके मन में यह धर्म-संवेग जागा कि वह तत्काल भगवान बुद्ध का दर्शन करने जाय। जब उसने अपनी यह इच्छा नगरश्रेष्ठि के सामने प्रकट की तो उसने कहा कि यह समय अनुकूल नहीं है। भगवान अपने बृहद भिक्षु-संघ के साथ नगर के भीतर नहीं; बल्कि बाहर शीतवन में विहार कर रहे हैं और दिन ढल चुका है, नगर के दरवाजे बंद हो चुके हैं। रात बीतने पर नगर के दरवाजे खुलेंगे, तभी उनसे मिलना हो सकेगा अथवा कल जब वे भोजन पर यहां पधारेंगे तब उनसे मिलना हो सकेगा। मजबूरी थी,

अतः प्रातःकाल नगर-द्वार खुलते ही भगवान के दर्शनार्थ शीतवन चलना है, यह निर्णय करके अनाथपिंडिक अपने बिस्तर पर लेट गया। परंतु उसकी आंखों में नींद नहीं थी। भगवान बुद्ध के दर्शन की आकांक्षा-उत्कंठा उसके मानस में हिलोरें मार रही थी। नींद आती भी थी तो थोड़ी देर में उचक कर उठ जाता था कि भोर हो गया है। परंतु रात का गहरा अँधेरा देखकर फिर सो जाता था। यों तीन बार उचक-उचक कर जाग उठा और अँधेरा देख कर सो गया। परंतु चौथी बार उठा तो अँधेरा होने पर भी घर के बाहर अकेला ही निकल पड़ा, जैसे कोई चुंबक-शक्ति उसे अपनी ओर खींच रही हो। भगवान के दर्शन का आकर्षण बड़ा प्रबल था।

सूर्योदय में अभी देर थी। नगर-वीथियों में नगरनिगम द्वारा कुछ-कुछ दूरी पर आलोकित दीप नीरव निशीथ के अंधकार से युद्ध कर रहे थे। नगर की इन दीपशिखाओं के धीमे प्रकाश के सहारे सेठ अनाथपिंडिक नगर के दक्षिण द्वार की ओर बढ़ता जा रहा था। उसी दिशा में नगर के बाहर शीतवन था, जहां खुले में भगवान बुद्ध भिक्षु-संघ के साथ विहार कर रहे थे। सूर्योदय के पूर्व किसी भी दिशा का नगर-द्वार नहीं खुलता था, परंतु ऐसा संयोग हुआ कि अनाथपिंडिक जैसे ही दक्षिण द्वार तक पहुँचा, उसे वह खुला हुआ मिला। वह नगर-द्वार के बाहर खुले मैदान में आ पहुँचा। यहां कोई नगर-वीथि नहीं थी, न नगर-वीथि का कोई दीप-स्तंभ था। चारों ओर निविड़ अंधकार था। नगर का यह दक्षिण द्वार नगर के मुर्दों के निगमन के लिए था। पास ही श्मसान भूमि थी। इस विजन वनप्रदेश में अनाथपिंडिक को दिशाभ्रम हुआ। वह समझ नहीं पा रहा था कि किस ओर जाये? भगवान किस ओर विहार कर रहे हैं? चारों ओर श्मसान का सन्नाटा छाया हुआ था। अनाथपिंडिक का दिल दहल गया। उसका हृदय कांप उठा। भय के मारे रोंगटे खड़े हो गये। पसीना छूटने लगा। उसे होश आया कि अभी रात समाप्त नहीं हुई है। सूर्योदय में देर है। नगर के बाहर निकलने का यह उचित समय नहीं था। वह उल्टे पांव घर लौटने को उद्यत हुआ। इतने में मानो अपने अंतर्मन में उसे एक आवाज सुनायी दी–

"चल, गृहपति चल, चलना ही तेरे लिए श्रेयस्कर है, मंगलकारी है। लौटना नहीं।"

यह आवाज सुनी तो अनाथपिंडिक हिम्मत बटोर कर आगे की ओर बढ़ चला। थोड़ी ही देर में अंधकार का घनत्व दूर हुआ। कुछ दूरी पर, धुँधलके में उसे किसी एक व्यक्ति की अस्पष्ट-सी आकृति दिखायी दी। वे भगवान बुद्ध ही थे जो कि अपने नित्य-नियम के अनुसार प्रत्यूष के पूर्व खुली भूमि

पर चंक्रमण कर रहे थे, टहलते हुए ध्यान कर रहे थे।

अनाथपिंडिक जैसे ही कुछ समीप पहुँचा, भगवान चंक्रमण भूमि से नीचे उतर कर एक बिछे हुए आसन पर बैठ गये। उन्होंने अनाथपिंडिक को आमंत्रित करते हुए पुकारा– आओ, सुदत्त।

भगवान की वाणी में निर्झरिणी का-सा कलकल निनाद था, विद्युत का-सा चेतन प्रवाह था, अमृत का-सा मधुर मिठास था, मलयानिल की-सी स्निग्ध शीतलता थी। सुनते ही अनाथपिंडिक का सारा शरीर झनझना उठा। सचमुच भगवान 'भगवान' हैं, सम्यक संबुद्ध हैं, सर्वज्ञ हैं; इसीलिए मुझे नाम लेकर बुला रहे हैं। सुदत्त उसके माता-पिता द्वारा जन्म के समय दिया हुआ नाम था। उसका यह नाम तो लोगों ने कब का भुला दिया था। अब तो वह अनाथपिंडिक के नाम से ही प्रसिद्ध था। लोग उसे इसी नाम से जानते थे। परंतु भगवान उसके सही नाम से उसे पुकार रहे हैं। यह देख कर श्रेष्ठी भावविभोर हो उठा। उसका रोम-रोम रोमांचित हो उठा। हृदय प्रसन्न-पुलकित हो उठा। श्रद्धाबाहुल्य से उसकी आंखें डबडबा आयीं। भगवान के सम्मुख बैठ कर उसने उनकी चरण वंदना की। भगवान के दर्शनों से वह निहाल हो उठा। अनेक जन्मों का पूर्व-पुण्य प्रतिफलित हुआ। उसका भाग्य जागा। महामंगल का समय समीप आया।

धर्म दर्शन

श्रेष्ठि अनाथपिंडिक मंत्रमुग्ध-सा भगवान की ओर अपलक देखता रहा और भगवान उस पर मंगलमैत्री की अविरल वर्षा करते रहे। उसका अनुत्तर धर्माभिषेक करते रहे। कुछ देर बाद श्रेष्ठि ने भगवान से यह औपचारिक प्रश्न पूछ लिया।

– भन्ते, भगवान रात सुख से तो सोये ?

भगवान ने सुधा-वर्षिणी वाणी में उत्तर दिया–

– जो इसी जीवन में परिपूर्णरूप से नित्य, शास्वत, ध्रुव निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार कर लेता है वह अरहंत हुआ व्यक्ति सही माने में ब्राह्मण बन जाता है। ऐसा पापमुक्त ब्राह्मण सदा सुख से ही सोता है। वह सभी दोषों से छुटकारा पाकर काम-संताप से मुक्त हुआ शीतलीभूत हो जाता है। सभी आसक्तियों को दूर कर सर्वथा निर्भय हो जाता है। चित्त-शांति उपलब्ध कर अपशांत हुआ वह व्यक्ति सदा सुख की नींद ही सोता है।

श्रेष्ठि यह सुन कर गदगद हुआ। सचमुच कोई व्यक्ति चित्त-शांति से संपन्न होता है तो ही बुद्ध होता है। और बुद्ध होता है तो इन धार्मिक सद्गुणों को उपलब्ध कर सकने की ही सही शिक्षा देता है। वह सामने बैठे भगवान के चित्त की शीतलता का स्वयं अनुभव कर रहा है। वह खूब समझ रहां है कि यह एक धनवान व्यक्ति को ठगने के लिए किसी ढोंगी गुरु का प्रवंचन-प्रलाप नहीं है। भगवान के सान्निध्य में श्रेष्ठि धन्यता का स्वयं अनुभव कर रहा है।

भगवान ने देखा श्रेष्ठि का श्रद्धालु मानस सद्धर्म सुनने को आतुर है। अतः उन्होंने उसे धर्म का उपदेश दिया। क्रमशः उत्तरोत्तर शुद्ध धर्म प्रकाशित किया। धर्म सुनने वाला श्रावक गृहस्थ है, व्यवसायी है, धनपति है, धन संचय करने में संलग्न रहता है। गृहस्थ को धर्मपूर्वक, श्रमपूर्वक धन अर्जन करना ही चाहिए। इसमें कोई दोष नहीं है। किसी के सामने हाथ पसारना उसके लिए उचित नहीं है। परंतु जब धन के प्रति गहन आसक्ति हो जाती है तब यह अर्जन और संवर्धन केवल संचय, संग्रह, परिग्रह तक ही सीमित रह जाता है और गृहस्थ की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बन जाता है। अतः आनुपूर्विक धर्मकथा कहते हुए भगवान ने सर्वप्रथम दान की महत्ता समझायी। परंतु धनार्जन कर, अपनी आय का एक भाग जनहित के लिए दान देकर भी यदि दानी शील धर्म का पालन नहीं करे तो सुखी नहीं रह सकता। वह दुःखमुक्ति की बुनियादी अवस्था ही नहीं प्राप्त कर पाता। अतः भगवान ने शीलपालन की अनिवार्यता समझायी। शीलवान व्यक्ति इस जीवन में तो सुखी रहता ही है, मरणोपरांत भी सद्गति का अधिकारी होता है। इसे स्पष्ट करते हुए स्वकर्मानुसार सद्गति-दुर्गति प्राप्त होने की धर्मनियामता समझायी। तत्पश्चात सदा काम-भोग में ही लिप्त रहने वाले गृहस्थ के क्लेष-कलुषमय जीवन की हानियां और विशुद्ध निष्काम जीवन की महानता समझायी।

परचित्तज्ञान की सिद्धि द्वारा भगवान ने अपने बोधिचित्त से देखा कि इस धर्मकथा को ध्यानपूर्वक सुनते-सुनते श्रेष्ठि अनाथपिंडिक का चित्त धर्म की गहराइयां समझ सकने लायक हो गया है। सामान्य धनवान गृहस्थ की अहंजन्य कठोरता पिघल गयी है और वह अत्यंत मृदुलचित्त हो गया है। उसके चित्त पर से कामछंद याने राग-रंजन और व्यापाद याने द्वेष-दूषण दूर हो गये हैं। शारीरिक और मानसिक आलस्य-प्रमाद, उद्विग्नता, बेचैनियां और क्षोभ तथा शंका-संदेह के सभी नीवरण-आवरण भी हट चुके हैं। उसका मन एकाग्र है, अचंचल है, श्रद्धासंपन्न है, उदग्र है, प्रसन्न है, निर्मल है, और गंभीर धर्म समझने के लिए सर्वथा सक्षम है।

यह देख कर भगवान ने उसे उन चार आर्यसत्यों की देशना दी जो

किसी भी सम्यक संबुद्ध द्वारा सम्यक संबोधि प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। इन चार आर्यसत्यों का स्वयं साक्षात्कार कर के कोई भी व्यक्ति अपने भवचक्र को दुर्बल बनाते-बनाते उसका नितांत भंजन कर लेता है और मुक्ति के स्रोत में पड़ कर आगे बढ़ता हुआ परम मुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेता है।

भवबंधन में पड़े दुखियारे प्राणी के लिए यही तो प्रासंगिक बात है कि वह इस सच्चाई को स्वानुभूति द्वारा जान ले कि यह भवबंधन कितना दुखदायी है और यह कि दुःख का मूल कारण दुर्द्धर्ष तृष्णा है, आसक्ति है; जो कि हर मृत्यु के बाद नया-नया जन्म दे कर इस दुःखद भवचक्र को चलायमान रखती है। इस दुःख से नितांत मुक्त हो जाने का उपाय है जो कि शील, समाधि और प्रज्ञा का आठ अंग वाला मार्ग है; जिसके अभ्यास से यह मुक्त अवस्था प्राप्त हो सकती है। सभी सम्यक संबुद्धों द्वारा सत्य की यही खोज है जो उन्हें मुक्त हो सकने का मार्ग प्रशस्त करती है, जिससे कि वे स्वयं विमुक्त होकर औरों को विमुक्ति का मार्ग दर्शाते हैं। शील का पालन करते हुए चित्त को एकाग्र कर अपने भीतर नाम और रूप के यानी चित्त और शरीर के अनित्यधर्मा प्रपंच को विपश्यना विधि द्वारा अनासक्त भाव से देखना और देखते-देखते चित्त के विकारों को दूर कर लेना सिखाते हैं। पुनर्जन्म देने वाले पूर्व संचित कर्म-संस्कारों का इस प्रकार क्षय करते-करते निरोध अवस्था का साक्षात्कार कर लिया जाता है। इंद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार कर लिया जाता है।

यों भवचक्र से प्रपीड़ित किसी भी व्यक्ति को नितांत दुःखविमुक्ति की अवस्था प्राप्त हो सकती है। दुखियारे को और क्या चाहिए ? दुःखविमुक्ति ही तो चाहिए। रोगी को रोगविमुक्ति, बंदी को बंधनविमुक्ति ही तो चाहिए। इसके लिए जो कार्य मुक्ति में सहायक है वही प्रासंगिक है। परंतु जब कोई व्यक्ति किसी संप्रदाय के बाड़े में बँधा होता है तो उसे उस संप्रदाय के कर्मकांडों के प्रति तथा उसकी दार्शनिक मान्यताओं के प्रति इतनी गहरी आसक्ति बनी रहती है कि वह दुखविमुक्ति संबंधी इन प्रासंगिक सच्चाइयों को सुनना तक नहीं चाहता और उन-उन अप्रासंगिक मान्यताओं को और क्रिया-कलापों को धर्म मान कर उन्हीं में उलझा रहता है। ऐसी मनोस्थिति वाला व्यक्ति शुद्ध विमुक्तिप्रदायक धर्म को सुनेगा ही नहीं तो समझेगा कैसे ? समझेगा ही नहीं तो धारण कैसे करेगा ? और धारण नहीं करेगा तो उससे लाभान्वित कैसे होगा ? वास्तविकता से दूर काल्पनिक अंधमान्यताओं का स्वप्निल जीवन उसे बहुत प्रिय लगता है। ऐसा व्यक्ति यथाभूत धर्म की सच्चाई का उपदेश सुनने से

कतराता रहता है। डरता रहता है कि मेरी दार्शनिक मान्यताओं का क्या होगा ? मेरे कर्मकांडों का क्या होगा ? मेरे संप्रदाय का क्या होगा ?

परंतु सौभाग्य से अनाथपिंडिक ऐसे शंकालु व्यक्तियों में से नहीं था। वह भारत और भारत के बाहर अपने विपुल व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का कुशल संचालक था। अतः ठोस धरती पर पांव रख कर चलने की उसे आदत थी। निरर्थक भावुकता के स्थान पर यथार्थ का जीवन उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः उसने दत्तचित्त होकर तथता पर आधारित भगवान का उपदेश सुना। दुःख जीवन जगत की एक ठोस सच्चाई है। तृष्णा उसका मौलिक कारण है, यह उसे समझते देर नहीं लगी। तृष्णा जागती है तो उसके अपूरित रहने पर चिड़चिड़ाहट होती है, द्वेष-दौर्मनस्य जागता है और उसके साथ-साथ अन्य अनेक विकारों का प्रजनन होने लगता है, उनका संवर्धन होने लगता है और अंतर्मन की तलस्पर्शी गहराइयों में उनका संचयन होने लगता है जो कि विकार-प्रजनन के अंतर्स्वभाव को पुष्ट से पुष्टतर करते रहता है। परिणामतः दुःख पर दुःख बढ़ते ही जाते हैं। समस्त संसार की सारी संपदा एकत्र करके भी इन विकारजन्य दुःखों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। किन्हीं कर्मकांडों से, किन्हीं दार्शनिक मान्यताओं को कड़ाई से मान लेने से अथवा पुरोहितों द्वारा कोई धार्मिक अनुष्ठान करवा देने से इन विकारों की जड़ें नहीं निकलतीं। थोड़ी देर के लिए अपने आप को किसी भुलावे में भले भुलाए रखे। परंतु विकार-विमुक्त जीवन का यथार्थ सुख प्राप्त नहीं हो सकता। यह वह अपने अनेकानेक अनुभवों से जान चुका था। अतः उसे भगवान द्वारा दिया गया यथार्थ पर आधारित उपदेश बहुत उचित लगा, न्यायसंगत लगा, बुद्धिगम्य लगा। भगवान ने समझाया कि तृष्णा तथा उसके पीछे कतार बांधे समस्त विकारों का तन और मन से गहरा संबंध है और इन दोनों के संसर्ग से जो सुखद, दुःखद अथवा असुखद-अदुःखद संवेदनाओं की अनुभूति होती है, उनसे तो बहुत गहरा और सीधा संबंध है। जहां इन संवेदनाओं का विकारों के प्रजनन और संवर्धन से सीधा संबंध है वहां उनके संवर, उनकी निर्जरा और क्षय से भी इनका सीधा संबंध है। इन संवेदनाओं की अनुभूति होने पर अबोध अवस्था में जब-जब राग-द्वेषमयी तृष्णा की प्रतिक्रिया करते हैं तब-तब विकार उत्पन्न हो-होकर संवर्धन को प्राप्त होते हैं। यों नए-नए कर्मसंस्कारों का ढेर लगने लगता है। क्योंकि यह प्रतिक्रियात्मक चेतना ही तो कर्म है, कर्मसंस्कार है। इन्हीं संवेदनाओं को इनके अनित्य स्वभाव में साक्षीभाव से देखने से विकार-प्रजनन के स्वभाव का संवर होता है। इससे नए कर्मसंस्कार बनते नहीं और पुरानों की उदीरणा होती है, निर्जरा होती है और उनका क्षय हो जाता है। यों होते-होते

जब अधोगति की ओर ले जाने वाले सारे कर्मसंस्कार नष्ट हो जाते हैं तो निरोध-निर्वाण की नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का पहली बार साक्षात्कार होता है और साधक मुक्ति के स्रोत में पड़ जाता है।

अनाथपिंडिक इस गंभीर उपदेश को बड़े ध्यान से सुन रहा था। वह अनेक जन्मों की प्रभूत पारमिताओं का धनी था। इन पारमिताओं का बल ही शुद्ध धर्म सुनने और समझने में उसका सहायक बन गया था। इस पुण्य-बल के कारण ही भगवान का उपदेश सुनते-सुनते उसे सारे शरीर में नन्हीं-नन्हीं उर्मियों के उदय-व्यय की अनुभूति होने लगी। अनित्यबोधिनी प्रज्ञा स्थिर होने लगी। मुक्तिदायिनी समता पुष्ट होने लगी। अनेकानेक पूर्व जन्मों में शुद्ध धर्म के संपर्क में आ-आकर अपनी पुण्य पारमिताएं पुष्ट करते हुए उसने अपने मन को पर्याप्त मात्रा में प्रांजल कर लिया था। अधोगति की ओर ले जाने वाले जो थोड़े-बहुत कर्मसंस्कार बचे थे, अब स्वतः जाग्रत हुई इस विपश्यना विद्या द्वारा उनकी भी उदीरणा हुई और उनका क्षय हुआ। अतः भगवान का उपदेश पूरा होते-होते उसी आसन पर बैठे-बैठे उसके भीतर विरज विमल धर्मचक्षु उत्पन्न हुए। अर्थात सभी काल्पनिक मान्यताओं के आवरणों को दूर कर सच्चाई को यथार्थ रूप से अनुभव कर सकने की विमल क्षमता प्राप्त हुई। जैसे किसी मैले कपड़े को बिल्कुल साफ करके रँगे तो उस पर बहुत चटकदार रंग चढ़ता है, ऐसे ही उसके स्वच्छ हुए मानस पर शुद्ध धर्म का कल्याणकारी रंग चढ़ा और उसे यकायक निरोध अवस्था की अनुभूति हो गयी। शरीर और चित्त के समुदय और व्यय रूपी अनित्यधर्मा स्वभाव का अनुभव करते-करते तरंगातीत इंद्रियातीत अवस्था का अनुभव हो गया। वह इस सत्य को स्वानुभूति द्वारा जान गया कि जो कुछ समुदयधर्मा और व्ययधर्मा है, वह निरोधधर्मा भी है। समुदय और व्यय होना उसका स्वभाव है परंतु अब देखा कि इस समुदय-व्यय का जो अनित्यधर्मा क्षेत्र है, उसके परे निरोध, निर्वाण का नित्यधर्मा क्षेत्र भी है। अनाथपिंडिक ने दोनों क्षेत्रों का अनुभव कर लिया। इन दोनों क्षेत्रों का स्वयं दर्शन कर यानी उनका अनुभव कर वह निहाल हो गया। स्रोतापन्न हो गया।

अनाथपिंडिक को धर्म की सच्चाई अनुभूतियों के स्तर पर प्राप्त हुई। वेदनाओं के आधार पर विदित हुई। प्रगाढ़रूप से उपलब्ध हुई। अब उसके लिए सद्धर्म के प्रति संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह गया। किसी दार्शनिक मान्यता को लेकर वाद-विवाद करने का कोई कारण नहीं रह गया। भविष्य के प्रति कोई भय नहीं रह गया। किसी काल्पनिक अदृश्य सत्ता पर आश्रित-निश्रित रहने की आवश्यकता नहीं रह गयी। वह धर्म की यथार्थ धरती

पर खड़ा होकर स्वयं स्वाधीन हुआ, स्वतंत्र हुआ। उसके लिए भगवान की शिक्षा का महत्त्व बहुत स्पष्ट हुआ। उसकी उपादेयता बहुत स्पष्ट हुई। अपने विकारशून्य चित्त में ऐसी प्रणीत शांति का अनुभव हुआ जो कि उसे न कभी किसी कर्मकांड पूरा करने से प्राप्त हुआ था और न किसी दार्शनिक मान्यता को अंधश्रद्धापूर्वक मान लेने से।

वह कृतज्ञता-विभोर होकर बोल उठा –

– कितनी प्रेयस और श्रेयस है, भगवान, आप की यह अद्भुत शिक्षा ! जैसे कोई उल्टे को सीधा कर दे। ढके को उघाड़ दे। भूले-भटको को सही रास्ता बता दे। अंधकार में तेल का दीपक जला कर रख दे जिससे कि आंख वाले यथार्थ को देख सकें। भगवान आपने अनेक प्रकार से धर्म की सच्चाई प्रकट की है। मैं निहाल हुआ। भंते, मैं भगवान की, धर्म की और भिक्षु-संघ की शरण ग्रहण करता हूं। भंते, आज से मुझे प्राण-पर्यंत अपना श्रद्धालु उपासक स्वीकार करें।

तत्पश्चात उसने श्रद्धाबहुल हो भगवान से प्रार्थना की कि वे भिक्षु-संघ सहित भोजन का निमंत्रण स्वीकार कर उसे कृतार्थ करें। आज का भोजन तो उसके साले के यहां ले रहे हैं अतः उसने कल के भोजन के लिए भगवान को संघ सहित आमंत्रित किया जिसे भगवान ने मौन रह कर स्वीकार किया।

अनाथपिंडिक जब लौटा तो उसका मन प्रसन्न-प्रफुल्लता से उल्लसित था। आज उसने भगवान बुद्ध का दर्शन किया है। नाम और रूप के याने चित्त और शरीर के अनित्य-स्वभावी धर्म का दर्शन किया है और उसके परे नित्य-स्वभावी निरोध-निर्वाण धर्म का भी दर्शन किया है। उसका मानव जीवन सफल हुआ है। धन्यता से भर उठा है। धर्म-मांगल्य से भर उठा है।

संघ दर्शन

उसकी आंखों में उत्सुकता का आकाश समाया हुआ था। कोशल देश का धनकुबेर सुदत्त राजगृह में अपने ससुराल के विशाल भवन की ड्योढ़ी पर एक खंभे के सहारे खड़ा था। उसकी पत्नी का भाई और उसकी बहन का पति राज्यश्रेष्ठि बार-बार उससे अनुनय विनय कर रहा था कि आप बहुत थके हैं। कल सायंकाल ही इतनी लंबी यात्रा पूरी करके आए हैं और रात भर सुख से सो नहीं पाए। अतः भीतर शयनकक्ष में जा कर विश्राम करें। भिक्षु संघ सहित जब भगवान पधारेंगे तब हम आपको सूचित कर देंगे। तब उनकी अगवानी के लिए चले आइएगा। अभी भगवान के आने में कुछ देर

है। तब तक विश्राम कर लेना ही उचित है। इससे यात्रा की थकान दूर हो जायगी।

सुदत्त ने मुस्करा कर सिर हिलाया और स्तंभ के सहारे वहीं खड़ा रहा। नगरश्रेष्ठि का संकेत पाकर द्वारपाल भीतर से एक चौकी ले आया। उस चौकी पर एक गद्दी रखी और उस पर शुभ्र श्वेत चादर बिछा दी। नगरश्रेष्ठि के आग्रह पर सुदत्त सेठ उस पर बैठ गया लेकिन उसकी अपलक नजर राजपथ पर ही लगी रही। दक्षिणी द्वार से नगर में प्रवेश करके भगवान इसी पथ से आने वाले हैं। प्रतीक्षा में बैठे हुए सुदत्त के स्मृतिपटल पर तथागत की निन्नादी कल्याणी वाणी तरंगित हो रही थी। बार-बार उसका चित्त और शरीर पुलक-रोमांच से भर उठता था। मन हृदयवस्तु पर जा टिकता तो उत्पाद-व्यय की अत्यंत सूक्ष्म उर्मियों के निरीक्षण में तल्लीन हो जाता था। इस अवस्था में कुछ समय बीतने पर उसे याद आता है कि आज प्रातःकाल भगवान की वाणी सुनते-सुनते इस सूक्ष्म अनित्यबोध की अनुभूति निरुद्ध हो गयी थी और भले क्षण भर के लिए ही उसे इंद्रियातीत, तरंगातीत, ध्रुव परम सत्य का साक्षात्कार हुआ था। उस अमृत का रसास्वादन करने पर उसे इस कदर हल्कापन महसूस हुआ था मानो अनेक जन्मों के कर्म-संस्कारों का बहुत बड़ा बोझ उतर गया हो? ये लोग मुझे विश्राम करने को कहते हैं ताकि मेरी थकान दूर हो जाय। ये नहीं जानते कि उस परम शांति की क्षणिक अनुभूति के द्वारा श्रावस्ती से राजगृह की लंबी यात्रा की ही नहीं, बल्कि अनेक जन्मों की भवयात्रा की थकान दूर हो गयी है। मैं कितना हल्कापन महसूस कर रहा हूं। अहो! मैं कितना भाग्यशाली हूं। उस क्षणिक अनुभूति की मधुर स्मृति मानस-सरोवर पर बार-बार कितनी सुखद उर्मियां जगाती है।

उसे खूब याद है। एक पहर पहले की ही घटना थी वह। प्रत्यूष के पूर्व का समय था, आकाश में पूर्ण प्रकाश का आगमन भी नहीं हुआ था। धुँधले प्रकाश में उसने तथागत के दिव्य, भव्य रूप का दर्शन किया था। अब दिवस के संपूर्ण प्रकाश में वह पुनः उनके दर्शन करेगा। उस समय कुछ दूरी पर उसने कुछ धुँधली-सी मानवी आकृतियां टहलती हुई देखी थी। वह अवश्य ही भगवान का भिक्षु संघ था। उस समय वह उन सबों का दर्शन नहीं कर सका था। अब भगवान के साथ उनका भी आगमन हो रहा है। उनका भी दर्शन होगा।

भगवान के भिक्षु संघ के बारे में नगरश्रेष्ठि ने उसे जो कुछ बताया उसे स्मरण करते हुए उसका मन असीम श्रद्धा से भर उठा था। अहो, भगवान का भिक्षु संघ कितना स्तुत्य है, श्लाघ्य है, नमन्य है, प्रणम्य है, वरेण्य है! कितना वंदनीय है, अभिनंदनीय है! ऐसे आदर्श बुद्ध-प्रमुख भिक्षु संघ का साक्षात दर्शन करने के

लिए उसका मन उतावला हो रहा था। आंखों में असीम उत्सुकता समायी हुई थी।

उसे बहुत प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। शीघ्र ही दूर राजपथ पर भगवान बुद्ध आते हुए दीख पड़े। उनके पीछे-पीछे उन्हीं के जैसे गेरुए वस्त्र पहने हुए भिक्षुओं की लंबी कतार आती हुई दीख पड़ी। नगरश्रेष्ठि ने उसे बताया था कि भगवान के भिक्षु किसी दाता के घर के सामने 'भिक्षाम् देहि' की आवाज नहीं लगाते। मधुकरी के लिए निकले हुए भिक्षु किसी घर के सामने मौन रह कर कुछ क्षणों के लिए रुकते हैं। गृहपति या गृहणी बाहर आ कर उनके भिक्षा-पात्र में भोजन डाल देते हैं। मन ही मन उसकी मंगल कामना कर वे आगे बढ़ जाते हैं। जब घर में से कोई दान देने वाला न निकलता तो उस घर के निवासियों की भी मंगल कामना करते हुए आगे बढ़ जाते हैं। पर ऐसा बहुत कम होता है। अक्सर गृहस्थ उनके आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं ताकि ऐसे आदर्श संतों को भोजन दान देकर वे असीम पुण्यलाभी हों। वे किसी भी घर के सामने भीख पाने की इच्छा से नहीं खड़े होते बल्कि गृहपति और गृहस्वामिनी को दान के पुण्यलाभ का अवसर प्रदान करने के लिए रुकते हैं। इसकी तुलना में अन्य गृहत्यागी कैसे घर-घर भीख पाने की गुहार लगाते हैं। 'अम्बे! भोजन दो, माई! भोजन दो! तेरे बेटे जिएं!' 'बाबा, दान दो! तेरा परिवार फले-फूले' आदि आदि की टेर लगाते हैं। किसी घर से भीख न मिले तो उसे भरपूर कोसते हैं, खरी-खोटी सुनाते हैं। 'तू कंजूस है, मक्खीचूस है! तेरे पास इतना धन होने का किसी को क्या लाभ हुआ? अपनी संपदा का स्वयं अकेला ही उपभोग करता है। तेरे कुल का संवर्धन कैसे होगा? तेरे धन की वृद्धि कैसे होगी? आदि आदि'। सेठ सुदत्त सोचता कि यदि ऐसा ही है तो इन दोनों प्रकार के गृहत्यागियों में कितना बड़ा अंतर है।

इस समय तो बुद्ध प्रमुख भिक्षु संघ नगरश्रेष्ठि के घर भोजन के लिए आमंत्रित हैं। अतः घर-घर गोचरी के लिए रुकने का प्रश्न ही नहीं है। सब के सब नपे-तुले कदमों से नगरश्रेष्ठि की हवेली की ओर बढ़ते चले आ रहे हैं। सभी नजर नीची किए हुए हैं। अन्य गृहत्यागी नगर में प्रवेश करते हैं तो कभी इधर, कभी उधर, कभी इस घर को, कभी उस घर को, कभी इस पुरुष को, कभी उस नारी को ताकते-झांकते हुए चलते हैं। भगवान के भिक्षु भगवान की ही भांति सामने दो कदम या चार कदम की धरती तक अपनी दृष्टि सीमित रखते हुए चल रहे हैं। एक भी भिक्षु नजर उठा कर इधर-उधर नहीं देखता। वे परस्पर बात-चीत भी नहीं करते। सभी मौन हैं, सभी निःशब्द हैं।

कोई-कोई गृहत्यागी भिक्षाटन पर निकलते हैं तो नाचते-गाते हुए, ढोल-मजीरे-करताल अथवा ताली बजाते हुए निकलते हैं। कोई-कोई गृहत्यागी यों गाते-बजाते नहीं तो परस्पर उच्च स्वर में बात-चीत करते हुए, तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, बहस-मुबाहिसा करते हुए, परनिंदा या आत्म-प्रशंसा करते हुए, गली-मोहल्ले में कोलाहल भरते हुए चलते हैं। कोई-कोई गृहत्यागी, महंत, मठाधीश अपनी शिष्य-मंडली के साथ खूब सज-धज कर, सुसज्जित पालकी में बैठ कर निकलते हैं। लंबे चिकने बालों को फूलों से अथवा अन्य अलंकारों से सजा-सँवार कर, आंखों में अंजन, कानों में कुंडल, गले में माला, अंगुलियों में रत्नखचित स्वर्णमुद्राएं तथा अन्यान्य सुंदर बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर निकलते हैं। कोई-कोई गृहत्यागी फटे मैले बेतरतीब वस्त्र पहने हुए निकलते हैं। कोई शरीर पर राख लगाए हुए, जटाओं में और दाढ़ी-मूंछ में धूल लपेटे हुए निकलते हैं। कोई-कोई कमर में केवल एक लंगोटी लगा कर निकलते हैं और कोई-कोई निपट नग्न। उन्हें देख कर प्रौढ़ गृहणियां, नवयुवतियां और किशोरियां सिर नीचा कर लेती हैं। कोई शरमा-सकुचा कर घर के भीतर चली जाती हैं। उन गृहत्यागियों की तुलना में ये भिक्षु शालीनता पूर्वक शरीर को पूरी तरह ढक कर चले आ रहे हैं। इनके चीवर कीमती नहीं हैं, रूखे हैं, पर स्वच्छ हैं। जहां फटे हैं वहां सिले हुए हैं। सबके सब सौम्यता, शिष्टता और शालीनता की प्रतिमूर्तियां हैं।

बुद्ध-प्रमुख भिक्षु संघ की यह कतार नगरश्रेष्ठि के घर के समीप आती जा रही है। सबके चेहरों पर नवोदित सूर्य के प्रकाश की किरणें पड़ रही हैं। भगवान का तो कहना ही क्या, सभी ध्यानलाभी भिक्षुओं के चेहरे अंतर्तप से दीप्त हैं। सभी ओजस्वी, सभी तेजस्वी, सभी शांत, सभी दांत, सभी संयत, सभी विनयनत।

अनाथपिंडिक श्रेष्ठि सुदत्त प्रसिद्ध दानी था। उसने भिन्न-भिन्न तीर्थों के, संप्रदायों के, संगठनों के, आश्रमों के गृहत्यागियों को अपनी दानशाला में आते हुए देखा है परंतु ऐसे पंक्तिबद्ध, अनुशासनबद्ध, संयमबद्ध, नियमबद्ध त्यागी, तपस्वी भिक्षुओं का संघ उसने अपने जीवन में पहली बार देखा। देखकर उसका हृदय गदगद हो गया। वह अतुल अपरिमित श्रद्धाभिभूत होकर नतमस्तक हो गया। इस अनुपम संघ-दर्शन से उसका रोम-रोम पुलक-रोमांच से भर उठा। उसके हाथ स्वतः जुड़ गए। मुख से 'साधु! साधु! साधु!' की मंगल वाणी फूट पड़ी। उसकी आंखों से अनायास अविरल अश्रुधारा बह निकली। कंठ अवरुद्ध हो गया। कुछ देर तक भावविभोर होकर वहीं खड़ा रह गया।

उसकी सुध-बुध तब लौटी जब कतारबद्ध भिक्षु संघ के आगे-आगे चलते

हुए तथागत राज्यश्रेष्ठि की ड्योढ़ी तक आ पहुँचे। नगरश्रेष्ठि और उसकी भार्या तथा अन्य सभी स्वजन-परिजनों ने बाहर आकर उनका स्वागत किया, उन्हें प्रणाम किया। श्रेष्ठि सुदत्त ने भी उनके प्रति स्वागत के शब्द कहे और उन्हें पंचांग प्रणाम किया।

भगवान अपने भिक्षु संघ सहित ड्योढ़ी के भीतर हवेली के सामने विशाल प्रांगण में आ गए। दोनों श्रेष्ठियों की भगवान से कुशल-वार्ता हुई। उन्होंने तथा अन्य परिजनों ने बुद्ध सहित भिक्षुओं के पांव धोये और गीले पांवों को शुभ्र श्वेत पाद-वस्त्रों से पोंछा। भगवान भोजन के लिए बिछे हुए प्रमुख आसन पर बैठ गए। भिक्षु भी अपने-अपने आसन पर जा बैठे।

भोजन परोसे जाने का समय आया। परिवार के सभी लोग खिचड़ी, भात तथा नाना प्रकार के षटरस व्यंजनों तथा विभिन्न मिष्ठान्नों से भरे हुए पात्र लिए खड़े थे। नगर सेठ अपने हाथों से भोजन परोस रहा था। उसके आग्रह पर सुदत्त सेठ ने भी कुछ व्यंजन व मिष्टान्न परोसे।

भोजन आरंभ हुआ। सुदत्त सेठ भगवान के सम्मुख एक नीचे आसन पर बैठ गया। उसने देखा सभी भिक्षुओं की नजर नीची है। केवल भोजन-पात्र तक सीमित है। भोजन करता हुआ कोई भी भिक्षु न किसी से बात करता है, न ही खाते हुए सुबुर-सुबुर जैसी आवाज करता है, न हाथ, न होठ, न पात्र चाट-चाट कर खाता है। पहला ग्रास निगल लेने के पहले दूसरा ग्रास मुँह में नहीं लेता। अत्यंत शालीनतापूर्वक भोजन ग्रहण करता है। भोजन कर लेने के बाद भगवान उठे, अपना भिक्षा-पात्र स्वयं धोया और पुनः अपने आसन पर आ बैठे। उनके बाद एक-एक करके सभी भिक्षु उठे, सव ने अपने-अपने पात्र धोये और अपने-अपने स्थान पर पुनः आ बैठे। भोजन का सारा कार्यक्रम जिस नीरव, सौम्य और शांतिपूर्वक ढंग से संपन्न हुआ, उसे देख कर सुदत्त सेठ विस्मय-विभोर हो उठा। साधकों का ऐसा अनुशासित संघ उसने पहली बार देखा, जिसे देख कर उसके हृदय में असीम श्रद्धा-भक्ति उमड़ पड़ी।

कुछ देर पश्चात भगवान ने भोजन-दान का पुण्यानुमोदन किया और गृहस्थ-धर्म समझाते हुए एक अत्यंत हृदय-स्पर्शी धर्मदेशना दी। सभी उपस्थित गृहस्थों ने उसे अतीव श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण किया और भगवान तथा भिक्षु संघ की वंदना की। इसके पश्चात भगवान उठे और जैसे आए थे, वैसे ही नपे-तुले कदमों से उन्होंने शीतवन की ओर प्रस्थान किया। भिक्षु संघ ने उसी प्रकार अनुशासित ढंग से उनका अनुगमन किया।

सुदत्त सेठ अपने विश्राम कक्ष में आकर कुछ देर आंख बंद किए

बैठा रहा। अनुपम संघ-दर्शन से उसका रोम-रोम रोमांचित हो रहा था। हृदय पुलकित हो रहा था। धन्य है यह आदर्श भिक्षु संघ, जिसे ऐसे अद्वितीय धर्म-शास्ता मिले हैं। यों चिंतन करते-करते वह स्वयं भी धन्यता के उदात्त भावों से भर उठा। अनायास उसके मुँह से साधुकार के मंगल शब्द फूट पड़े – 'साधु ! साधु ! साधु !'

दान-चेतना

बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ के विदा होने पर अनाथपिंडिक कुछ देर विश्राम करने के लिए अतिथिकक्ष के पलंग पर जा लेटा। रात भर का जागा हुआ था, तो भी उसकी आंखों में नींद नहीं थी। सारा शरीर, शरीर के अंग-प्रत्यंग, अंग-प्रत्यंग के अणु-अणु किसी अपूर्व अदृश्य सुधाधारा से अभिषिक्त हो रहे थे। मानस एक अनिर्वचनीय धर्मरस के रसास्वादन में निरत था। नींद की कोई आवश्यकता नहीं थी। नींद से तन और मन को जो विश्रांति मिलती है वह इस प्रभूत प्रश्रब्धि और प्रशांति की तुलना में तुच्छ थी।

बंद आंखों के सामने बार-बार तथागत का शांत सौम्य मुखमंडल प्रकट होता। बार-बार गेरुए वस्त्रधारी पंक्तिबद्ध भिक्षुओं के दीप्त चेहरे प्रकट होते। बुद्ध और संघ की जो आकर्षक आकृतियां उसके चित्त-पटल पर गहरी अंकित हो गयी थीं, बंद आंखों के सामने बार-बार उन्हीं का बाह्य प्रक्षेपण हो रहा था। आज के पहले उसने न कभी ऐसा सुसंयत शास्ता देखा था और न ही ऐसा अनुशासित गृहत्यागी संत समूह। उन दिनों का महादानी धनकुबेर होने के कारण वह कई धर्मशास्ताओं के संपर्क में आया था और उनके अनेक गृहत्यागी शिष्यों के भी। परंतु आज जिनके दर्शन हुए वे औरों की तुलना में अतुलनीय थे, अनुपम थे, अनुत्तर थे। अनाथपिंडिक देर तक आंख बंद किये इन्हीं भावों में खोया हुआ लेटा रहा। इतने में उसे दरवाजे के बाहर पदचाप सुनाई दिये। वह उठ बैठा। उसका बहनोई नगरश्रेष्ठि आया था और उसके साथ गृहस्वामिनी थी, उसकी बहन। भीतर आते ही श्रेष्ठि ने प्रश्न किया, ''अनाथपिंडिकजी ! कुछ देर सो पाये ?''

अनाथपिंडिक ने कहा, ''श्रेष्ठिजी ! सारे जीवन सोया ही रहा। आंखें तो अब खुली हैं। जागृति तो अब आयी है। मैं आप का बड़ा आभारी हूं। आप के कारण ही आज मुझे इतना बड़ा लाभ मिला। मैं अनुपम त्रिरत्न के संपर्क में आया। अब मैं एक और अनमोल लाभ अर्जित किया चाहता हूं। आप तो जानते ही हैं, मैंने अनेकों को विपुल दान दिया है; देता ही रहता

हूं। उस दान का कोई पुण्य नहीं होता, ऐसा तो नहीं कहता परंतु असीम फलदायी दान का बीज बोने के लिए मुझे ऐसे पुण्य-क्षेत्र पहले कभी नहीं मिले। अतः मैंने कल प्रातः के लिए भगवान बुद्ध और उनके समस्त संघ को भोजन दान के लिए आमंत्रित किया है। भगवान ने मुझ पर कृपा कर इसे स्वीकार कर लिया है। परंतु मैं देखता हूं कि आपके नौकर-चाकर आज प्रातःकाल के संघदान की तैयारी में किस प्रकार जुटे रहे। वे बहुत थक गए होंगे। अब पुनः उनके लिए इतना ही काम सामने है। सचमुच उन्हें बहुत कष्ट होगा, इसी का मुझे संकोच है।"

श्रेष्ठि ने कहा, "आप बिल्कुल संकोच न करें। जब-कभी घर पर भिक्षुसंघ के साथ भगवान बुद्ध के लिए भोजनदान का पुण्य अवसर प्राप्त होता है, तब मेरे नौकर-चाकरों के, सेवक-सेविकाओं के, दास-दासियों के मनमानस में खुशियां छलकने लगती हैं। वे अपने आपको बहुत भाग्यशाली समझते हैं और असीम उत्साह के साथ काम में जुट जाते हैं। आप उनके लिए लेशमात्र भी चिंता न करें। और हां, मेरी एक प्रार्थना है कि कल के संघदान का पुण्य तो आपका ही हो, परंतु इस पुण्यकार्य में जो धन व्यय होगा, वह हमारी ओर से लगे। आप तो हमारे अतिथि हैं। कृपया मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार न करें।"

परंतु अनाथपिंडिक ने श्रेष्ठि के इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। सारे घर में महासंघ दान की तैयारियां पुनः आरंभ हो गयीं। नौकर-चाकरों, सेवक-सेविकाओं और दास-दासियों के मानस में सचमुच उमंग और उल्लास की लहरें उर्मिल हो उठीं। सभी प्रसन्नचित्त मुस्कराते हुए काम में लग गये। अनाथपिंडिक की बहन भी खुशियों से थिरक उठी। भैया ने कितना अच्छा निर्णय किया। कल हमारा घर भगवान के पवित्र चरणों से एक बार पुनः पावन हो उठेगा।

अनाथपिंडिक के संघदान की चर्चा नगर के नैगम तक पहुँची। वह अनाथपिंडिक का पूर्व परिचित था। उससे मिलने आया। उसने भी यही निवेदन किया कि भोजन-दान का पुण्य तो आपका ही हो परंतु उसके लिए जो खर्च लगे, वह मेरी ओर से हो। आप तो हमारे नगर के सम्माननीय अतिथि हैं। अनाथपिंडिक ने उसके मैत्रीपूर्ण प्रस्ताव को भी नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया।

चर्चा महाराज बिंबिसार के महलों तक पहुँची। उसने भी अपने एक राज्य कर्मचारी के जरिये यही निवेदन भेजा। अनाथपिंडिक ने अत्यंत नम्रतापूर्वक उसे भी अस्वीकार कर दिया। महाराज ने कहलवाया – इस

महासंघदान में प्रचुर धन लगेगा। अनाथपिंडिक अपने साथ इतना धन नहीं लाया होगा। परंतु अनाथपिंडिक ने उत्तर भिजवाया कि वह आवश्यकता से अधिक धन अपने साथ लाया है। महाराज निश्चिंत रहें।

अनाथपिंडिक जब कभी व्यापारिक यात्रा पर निकलता तो पर्याप्त मात्रा में स्वर्णमुद्राएं अपने साथ लेकर चलता। यात्रा में जिस किसी ग्राम में, नगर में, निगम में या राजधानी में जिस किसी व्यक्ति को अथवा जनसमूह को जितना दान देने की चेतना जागती उसे उतना ही दान देता। बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ के भोजन दान के व्यय के लिए उसके पास स्वर्णमुद्रा पर्याप्त थी।

दिन भर के आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर रात्रि के पहले याम में अनाथपिंडिक की बहन और नगरश्रेष्ठि बहनोई अतिथिकक्ष में उसके पास पुनः आ बैठे। देर तक तथागत तथा उनके संतसंघ के बारे में चर्चा चलती रही।

उन्होंने बताया कि आज प्रातःकाल तथागत के साथ जब भिक्षुसंघ आया था और जो कल प्रातः पुनः आने वाला है, उसमें मगध के प्रसिद्ध अग्निहोत्री उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप तथा उनके एक हजार जटिल शिष्य भी सम्मिलित हैं। ये सब भगवान के संपर्क में आकर उनकी शिक्षा से इतने प्रभावित और लाभान्वित हुए कि दाढ़ी-मूंछ और जटा मुँडवा कर उनके शिष्य बन गये। यह सुन कर अनाथपिंडिक बहुत रोमांचित हुआ। वह जानता था कि काश्यप-बंधु मगध में ही नहीं बल्कि मगध के बाहर कोशल राज्य तक अनेक निवासियों के लिए भी पूज्य हैं। अग्निहोत्री कर्मकांड के मुकाबले उन्होंने तथागत की ध्यान-साधनाप्रधान जीवनचर्या सचमुच अधिक सफल सार्थक देखी होगी।

उसे यह भी बताया गया कि मगध के प्रसिद्ध धर्माचार्य संजय के दोनों प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मौग्गल्लायन सहित उसके अन्य २५० अंतेवासी भी उसे छोड़ कर भगवान की शरण चले आये। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक गृहत्यागी संन्यासी तथागत के संघ में सम्मिलित हो गये। राजगृह के अनेक गृहपति भी गृहस्थ जीवन त्याग कर उनके पास प्रव्रजित हो भिक्षुसंघ में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार दिन पर दिन भिक्षुसंघ की संख्या बढ़ती गयी और इसके साथ-साथ उनका मान-सम्मान भी। इसके कारण अन्य अनेक प्रव्रजितों के मन में डाह उत्पन्न हुई। उन्होंने नगरनिवासियों को भगवान का विरोधी बनाने के लिए उनके विरुद्ध दूषित प्रचार करना आरंभ किया। उनकी निंदाभरी बातें सुन-सुन कर अनेक लोग यह कहने लगे –

यह श्रमण गौतम माता-पिता को निपूता बनाने के लिए, कुलवधुओं को विधवा बनाने के लिए, गृहस्थों का वंश नष्ट करने के लिए आया है।

इसने काश्यप मंडली के एक हजार जटिलों को भिक्षु वना लिया। संजय के ढाई सौ शिष्यों को भिक्षुसंघ में सम्मिलित कर लिया। इतने से इसकी तृष्णा पूरी नहीं हुई। अब मगध के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कुलपुत्र भी इसके पास भिक्षु बनते जा रहे हैं। और न जाने किन-किन को यह अपने बाड़े में बांधेगा।

परंतु यह निंदा थोड़े दिनों ही चली। शीघ्र ही लोगों की समझ में आने लगा कि शाक्यपुत्र श्रमण गौतम चेले मूंड कर कोई संप्रदाय नहीं खड़ा कर रहा है। यह शुद्ध धर्म सिखा रहा है। जिन्हें भी सत्य धर्म का शुद्ध स्वरूप समझ में आ जाता है वे स्वभावतः इसके अनुयायी बन जाते हैं। जन्म मरण के भवचक्र से शीघ्र मुक्त होने के लिए जिनके मन में तीव्र धर्मसंवेग जागता है वे घर से बेघर हो इसके पास जाकर प्रव्रजित होते हैं। धर्म तो यह सब को सिखाता है। सभी भिक्षु नहीं बन जाते। अनेक लोग ऐसे हैं जो अभी गृह नहीं त्याग सकते। वे गृही रहते हुए भी उसी धर्मशिक्षा का पालन करते हैं। भले उनकी प्रगति धीमी हो, पर धर्म धारण करने का लाभ उन्हें भी मिलता ही है। बुद्ध के बताए मार्ग पर चल कर कितने गृहस्थों ने अपने जीवन सुधार लिये हैं। जब यह सच्चाई समझ में आने लगी तो भगवान द्वारा दिये गये शुद्ध धर्म के प्रशिक्षण का कोई समझदार व्यक्ति कैसे विरोध करता ? बल्कि और अधिक संख्या में लोग उनके बताए मार्ग पर श्रद्धापूर्वक चलने लगे।

यों शाक्यमुनि के प्रति जागी हुई निंदा शीघ्र ही प्रशंसा में बदलने लगी। लोगों ने देखा कि वे अपने अनुयायियों को धर्म में दीक्षित कर रहे हैं, किसी संप्रदाय में नहीं। वे लोगों को सत्य का दर्शन कराते हैं। मिथ्या अंधविश्वासों में नहीं उलझाते। उनकी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यही है कि लोग शीलवान बनें, समाधिवान बनें, प्रज्ञावान बनें और अपना मंगल साध लें। जो उनके बताये मार्ग पर चलने लगे उन्होंने देखा कि इस शिक्षा से लोभ, द्वेष और मोह नष्ट होते हैं। जितने-जितने नष्ट होते हैं, व्यक्ति उतना-उतना निर्मलचित्त होता है, उतना-उतना दुखविमुक्त होता है। उसका मानस मैत्री, करुणा और सद्भावना से भर उठता है। गृहस्थ हों या भिक्षु, बुद्ध की यह शिक्षा सब के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है।

चर्चा चलती रही। नगरश्रेष्ठि ने अनाथपिंडिक से कहा कि हम गृहस्थ विशेषतः व्यवसायी वर्ग के लोग कितने राग-रंजित रहते हैं, परस्पर ईर्ष्या और मात्सर्य जगा कर कितने द्वेष-दूषित रहते हैं, परिणामतः कितने दुखी रहते हैं। मोह-मूढ़ता के कारण यह समझ भी नहीं पाते कि अपने भीतर राग और द्वेष के प्रजनन तथा संवर्धन द्वारा हम स्वयं अपने आप को दुखी बनाते हैं। इसके लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं। बुद्धि के स्तर पर यह समझ लें तो भी इस दुःखदायी

स्वभाव-शिकंजे से कैसे मुक्त हों, यह नहीं जानते। अन्य आचार्यों की भांति तथागत केवल उपदेश दे कर नहीं रह जाते बल्कि इस दु:ख से विमुक्त होने के लिए ऐसी सहज सरल विधा सिखाते हैं जिसका अभ्यास करके लोग इसी जीवन में लाभान्वित होने लगते हैं।

श्रेष्ठि ने एक और महत्त्वपूर्ण बात यह बतायी कि तथागत और उनके भिक्षु ऐसी अनमोल विद्या सिखा कर भी बदले में कुछ नहीं मांगते। अन्य साधुओं की भांति ये जोड़ू-बटोरू नहीं हैं। सर्वथा अकिंचन रहते हैं। आश्चर्यजनक है इनका त्याग, अद्भुत है इनका अपरिग्रह।

श्रेष्ठि ने अनाथपिंडिक को यह भी बताया कि महाराज बिंबिसार ने तथागत और उनके विशाल भिक्षुसंघ को नगर के बीचोबीच वेणुवन विहार दान दिया है। यह उपवन बहुत विस्तृत है। फिर भी इतने बड़े भिक्षुसंघ के लिए बहुत छोटा है। अत: इसमें भगवान कुछ एक भिक्षुओं के साथ कभी-कभी ही विहार करते हैं और उस समय उनके पास जो गृहस्थ आते हैं उन्हें शुद्ध धर्म धारण करने की विद्या सिखाते हैं। परंतु अधिकांशत: वे अपने समग्र भिक्षुसंघ के साथ नगर के बाहर रहते हैं। वे कभी किसी सुनसान श्मसान-भूमि के समीप रहते हैं जहां कि आज प्रत्यूषकाल में आप उनसे मिलने गये। कभी किसी पर्वत की गुहा-कंदराओं में अथवा वन-प्रदेशों में पेड़ों के नीचे रहते हैं। नगर में भिक्षाटन करके ऐसे निर्जन स्थानों में निवास करने चले जाते हैं जहां विभिन्न प्रकार की असुविधाएं हैं। वर्षा, शीत और धूप से बचने के लिए सिर पर कोई छत नहीं। हिंस्र पशुओं से, सरिसृपों से, मक्खी-मच्छरों से, कीट-पतंगों से बचने के लिए कोई कुटिया भी नहीं। परंतु इसके लिए वे किसी से कभी कुछ नहीं मांगते। ऐसे असुविधाजनक निर्जन स्थानों में निवास करते हुए भी वे और उनके भिक्षु अत्यंत संतुष्ट प्रसन्न रहते हैं। लेकिन ऐसे निर्जन स्थानों में बहुत कम नागरिक उनके पास जाकर धर्म की शिक्षा ग्रहण कर पाते हैं। अत: एक बार मैंने विनम्र भाव से उनके कुछ भिक्षुओं से निवेदन किया कि यदि वे स्वीकृति दें तो मैं नगर की चारदीवारी के भीतर ही उनके निवास के लिए कुछ एक विहार बना कर दान दूं जिससे कि वे स्वयं भी बिना किसी बाधा के सुविधापूर्वक ध्यान कर सकें और नगर के अनेक नागरिक भी उनके पास सुगमतापूर्वक पहुँच कर शुद्ध धर्म सीख सकें।

भिक्षुओं ने मेरे इस प्रस्ताव को स्वयं स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इसे भगवान के सम्मुख रखा। मेरे सौभाग्य से भगवान ने स्वीकृति दे दी। मैंने नगर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर इन संत भिक्षुओं के लिए ६० विहार बनवा दिये। ये विहार न तो भिक्षुओं के आराम करने के लिए हैं, न उनके

आमोद-प्रमोद के लिए हैं और न ही आलस्य-प्रमाद में जीवन बिताने के लिए। ये विहार वस्तुतः आदर्श तपोभूमियां हैं, जहां साधक भिक्षु स्वयं भी सुविधापूर्वक ध्यान करते हैं और सुबह-शाम उनके पास आने वाले अनेक गृहस्थ भी उनसे धर्म धारण करने का प्रयोगात्मक प्रशिक्षण लेकर लाभान्वित होते हैं।

ऐसे विहारों का, ऐसी तपोभूमियों का, ऐसे ध्यानकेंद्रों का दान सचमुच असीम फलदायी होता है। श्रेष्ठि ने अनाथपिंडिक को बताया कि इन विहारों का निर्माण करके जब उसने बुद्ध-प्रमुख संत-संघ को दान दिया तब पुण्यानुमोदन करते हुए भगवान ने जो धर्मदेशना दी थी वह उसे सदा रोमांचित करती रहती है। भगवान ने कहा था– "उपासक, बाह्य बाधाओं से सुरक्षित रह कर सुख-सुविधापूर्वक ध्यान कर सकने के लिए जिस विहार का दान दिया जाता है वह सभी दानों में श्रेष्ठ दान है, अग्र दान है। इस दान की सुविधा पाकर विपश्यना ध्यान करते हुए केवल भिक्षु ही अपना भवचक्र भंजन नहीं कर लेते, प्रत्युत दायक गृहस्थों को भी धर्म साधना सिखाते हैं, जिसका अभ्यास करते हुए वे भी शुद्ध सत्य का दर्शन-ज्ञान प्राप्त करते हैं और शनैः शनैः आस्रवों से विमुक्त होते हैं, भवचक्र का भेदन कर परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

अतः शुद्ध धर्म का विहार एक आदर्श ध्यान केंद्र होने के कारण भिक्षुओं के लिए तो अमित उपयोगी है ही, श्रद्धालु गृहस्थों के लिए भी कम लाभदायी नहीं। इसीलिए ध्यान साधना हेतु बने विहार के दान को भगवान ने सर्वोत्तम दान कहा, अग्र दान कहा। सद्गृहस्थ भिक्षुओं को विहार का अग्र दान देते हैं। बदले में भिक्षुओं से वे धर्म का अग्रदान प्राप्त करते हैं और लाभान्वित होते हैं।

श्रेष्ठि से यह विवेचन-विवरण सुनते-सुनते अनाथपिंडिक की आंखें गीली हो गयीं। गदगद कंठ से उसने कहा– साधु! साधु! साधु! श्रेष्ठि, सचमुच तुम्हारा यह विहारों का दान अग्र ही है। ऐसा अग्रदान दे कर सचमुच तुम धन्य हुए।

बहन-बहनोई के चले जाने के बाद अनाथपिंडिक बिस्तर पर लेटे-लेटे इसी चिंतन-मनन में निमग्न रहा। मैं देश-विदेशों में स्थान-स्थान पर नित्य सैंकड़ो भूखों को भोजनदान देता हूं। यह अच्छा है, इसका अपना पुण्य है। एक भूखा व्यक्ति भोजन पाकर एक दिन की भूख की पीड़ा से तो मुक्त होता है, परंतु दूसरे दिन फिर भूखा हो जाता है। उसकी यह भूख की पीड़ा सदा के लिए नहीं मिटती। परंतु अनंतकाल से भव-भ्रमण करने वाले दुखियारे मानव

को विपश्यना विद्या मिल जाय तो उसका अभ्यास करते-करते पुनर्जन्म देने वाले जितने-जितने कर्म-संस्कारों से विमुक्त होता है, उतने-उतने दुखों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। सारे भवसंस्कार नष्ट कर ले तो सदा के लिए पूर्णतया भवमुक्त, दुखमुक्त हो जाय। आज प्रातःकाल थोड़े से क्षणों के लिए ही मुझे जिस आंतरिक सुख-शांति की अनुभूति हुई उसका प्रभाव मेरे मानस पर अब तक कायम है और सारे जीवन भर उसकी सुखद स्मृति भुलाई नहीं जा सकेगी। जिस व्यक्ति ने भव-संसरण से पूर्णतया मुक्ति पा ली उसकी सुख-शांति का तो कहना ही क्या ? ऐसी परम सुख-शांति अनेकों को मिले। एतदर्थ धर्म का दान सचमुच सर्वश्रेष्ठ दान है। धर्मदान के केंद्र स्वरूप इन विहारों का दान भी सर्वश्रेष्ठ दान है। यही अग्र दान है। इसी में अपरिमित मंगल कल्याण समाया हुआ है।

अनर्घ दान

बृहत भिक्षुसंघ सहित भगवान बुद्ध प्रातःकालीन भोजनदान ग्रहण करने के लिए श्रेष्ठी के घर पधारने वाले हैं।

अपने बहनोई राजगृह श्रेष्ठि के अतिथि-कक्ष में लेटा हुआ अनाथपिंडिक इस भावी महापुण्य की कल्पना से पुलकित रोमांचित हो रहा था। अपने बहनोई द्वारा बुद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ के लिए साठ विहारों की दान-कथा उसे भाव-विभोर कर रही थी। क्या मैं भी श्रावस्ती में ऐसी तपोभूमि का दान दे सकने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूंगा। क्या भगवान इसे स्वीकार करेंगे! श्रावस्ती महाकोसल राज्य की राजधानी है। जम्बू द्वीप (भारत) के मध्यमंडल प्रदेश की सबसे विशाल और जनाकीर्ण नगरी है। यदि वहां कोई तपोभूमि बने और भगवान पधारें तो हजारों भिक्षु तो उस विहार में तपेंगे ही, साथ-साथ उस महानगरी के लाखों दुखियारे गृहस्थों को भी ऐसी कल्याणी विपश्यना विद्या प्राप्त हो सकेगी, जिससे उनका भी लोक सुधरेगा, परलोक सुधरेगा और वे भी भवसंसरण से सहज मुक्त हो सकने का मार्ग पा सकेंगे। सभी तो दुखियारे हैं। निर्धन तो निर्धन, जो मेरे जैसे धनी हैं वे भी कितने दुखियारे हैं। सदा आत्मभाव में डूबे रहते हैं, आसक्त रहते हैं और इस कारण मन में राग या द्वेष जगाते रहते हैं। परिणामतः व्याकुल होते रहते हैं। जैसे मैं किया करता था वैसे ही वे बेचारे दुखियारे लोग भी सांसारिक दुःखों से, भले कुछ देर के लिए ही सही, छुटकारा पाने के लिए इस या उस धर्माचार्य के पास जाते रहते हैं। अनेक धर्माचार्य तो ऐसे हैं जो स्वयं भटके हुए हैं। अतः इन आर्त गृहस्थों

को यह या वह कर्मकांड पूरा कर लेने का उपदेश देते हैं और इसके द्वारा भवमुक्त होने का आश्वासन देते हैं। बेचारे अनेक गृहस्थ जीवनभर इन थोथे कर्मकांडों में उलझे रह जाते हैं। जब इस जीवन में उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता तो इस बात का मिथ्या आश्वासन देते हैं कि मरने के बाद अवश्य स्वर्ग अपवर्ग प्राप्त होगा। कई लोग इस आश्वासन के भरोसे अपना अनमोल मानवी जीवन व्यर्थ बिता देते हैं।

कोई-कोई समझदार आचार्य ऐसे भी हैं जो राग व द्वेषजन्य अनेकानेक विकारों से चित्त के मुक्त होने पर ही भवमुक्ति प्राप्त होगी, इस सच्चाई का उपदेश देते हैं। चिंतनशील लोगों को उनके ये धर्मोपदेश अच्छे लगते हैं। उनमें से जो मात्र जिज्ञासु हैं वे तो अपनी जिज्ञासा की पूर्ति से संतुष्ट हो जाते हैं। उन्हें ऐसी निर्मल धर्मवाणी सुन कर प्रसन्नता होती है। परंतु जो मुमुक्षु हैं वे जब विकार-विमुक्त होने के लिए कोई विधि पूछते हैं तो उन्हें कहा जाता है कि किसी अदृश्य देव या ब्रह्मा की अनुकम्पा पर आश्रित रहना होगा। उनकी कृपा से ही विकार-विमुक्त हो सकोगे। अपने बल पर नहीं। परंतु कुछ समझदार लोगों को यह समझते देर नहीं लगती कि अदृश्य देव और ब्रह्मा यदि अभी इसी जीवन में हमें विकार-विमुक्त नहीं कर सकते तो मृत्यु के बाद कैसे करेंगे? वे खूब समझते हैं कि विकार-विमुक्त होने के लिए स्वयं परिश्रम करना होगा, पराक्रम पुरुषार्थ करना होगा। कोई बाह्य शक्ति कैसे हमें विकार-विमुक्त कर सकेगी! ऐसी शंका करने पर कुछ एक आचार्य उन्हें परिश्रम करने का उपदेश देते हैं और वह यह कि कठोर से कठोर देह-दंडन का उपक्रम करो। अनेक लोग उसी में उलझे रह जाते हैं, क्योंकि मन को सुधारने का तो कोई मार्ग प्राप्त होता नहीं।

इस प्रकार अनाथपिंडिक का मनोमंथन चलता रहा। उसे याद आया। कल प्रत्यूष काल के पूर्व वह पहली बार भगवान तथागत से मिला था। उनके मुख से शील, समाधि और प्रज्ञा के शुद्ध धर्म की व्याख्या सुनी थी जिसे सुनते-सुनते उसने अपने भीतर उस शिक्षा के प्रयोगात्मक पक्ष का अभ्यास किया था। उससे जो लाभ हुआ, उसे याद करके वह बार-बार रोमांचित हो रहा था। अभ्यास करके यहीं इसी जीवन में शनैः शनैः विकार-विमुक्त होने की यह तत्काल फलदायिनी विद्या लोगों को प्राप्त होगी तो वे अनेक जंजालों में से निकल कर धर्म के शुद्ध मार्ग पर चलने का अभ्यास करने लगेंगे। भगवान यदि मुझे श्रावस्ती में एक विहार बनाने की अनुमति दे दें तो उस विहार में चित्त एकाग्रता और चित्त विशुद्धि के लिए केवल भिक्षुओं को ही उचित सुख-सुविधा नहीं मिलेगी, बल्कि अनेक मुमुक्षु गृहस्थों को भी इसका

बहुत बड़ा लाभ होगा। अपनी बहन और बहनोई के मुख से उसने कल ही सुना कि यहां राजगृह में उनके द्वारा दान दिए गये विहारों में अनेक गृहस्थ भी इस विकार-विशोधनी साधना से लाभान्वित हो रहे हैं। इसी प्रकार श्रावस्ती का विहार भी गृहस्थों के कल्याण का कारण बनेगा। इस चिंतन में निमग्न अनाथपिंडिक बार-बार धर्म-विह्वल होता रहा। उसका मन-मानस प्रीति-प्रमोद से उर्मिल-उर्मिल होता रहा। प्रत्यूष के बहुत पूर्व ही वह उठ बैठा। सारी रात नहीं सो पाने पर भी उसके तन और मन में कहीं कोई थकावट नहीं थी, आलस्य नहीं था, तनाव नहीं था। उसका हृदय गदगद हो रहा था। शरीर बहुत हल्का था।

उसने देखा कि उसके बहनोई के परिवार के लोगों ने मिल कर भगवान और भिक्षु संघ के लिए अनेक सुस्वादु व्यंजनों सहित भोजन तैयार कर लिया है। पौ फटते ही उसने भगवान को सूचना भिजवाई – भोजन का समय हो गया है। कृपया भिक्षुसंघ सहित पधारें। सूर्योदय होते-होते भगवान सुआच्छादित होकर भिक्षापात्र हाथ में लिए हुए कतारवद्ध भिक्षुसंघ सहित श्रेष्ठि के घर पहुँचे। अनाथपिंडिक ने श्रद्धापूर्वक नमन करते हुए उनका स्वागत किया। उनके पांव धोकर बिछे हुए आसनों पर बैठाया और अपने हाथ से उत्तम-उत्तम स्वादिष्ट भोजन परोसा। भगवान द्वारा भोजन-पात्र से हाथ खींच लेने पर अनाथपिंडिक उनके सामने हाथ जोड़ कर बैठ गया। उसने भावविभोर होकर भगवान से प्रार्थना की – "भगवान भिक्षुसंघ सहित श्रावस्ती पधारें और वहां वर्षावास करें।"

भगवान ने कहा, "हे गृहपति! तथागत शून्यागार में रहना पसंद करते हैं।"

इस प्रकार उन्होंने वहां विहार बनाने की अनुमति दे दी। अनाथपिंडिक का हृदय आनंद से भर उठा। उसने कहा "समझ गया भगवान! ऐसा ही होगा भगवान!"

भोजनोपरांत भगवान के लौट जाने पर अनाथपिंडिक ने अपनी व्यावसायिक यात्रा से संबंधित कार्यों को शीघ्रातिशीघ्र पूरा किया और अत्यंत प्रसन्नचित्त से श्रावस्ती की ओर लौट चला। इस बीच उसने भगवान के प्रमुख शिष्य आदरणीय भिक्षु सारिपुत्र से विहार निर्माण के बारे में कुछ एक आवश्यक परामर्श भी प्राप्त कर लिये।

राजगृह से श्रावस्ती की दूरी पैंतालीस योजन थी। उन दिनों अधिकांश यात्री एक दिन में एक योजन की ही यात्रा करते थे। अतः एक-एक योजन की दूरी पर एक बड़ा गांव, या निगम बसा होता था जो कि स्थानीय व्यापार

का केंद्र भी होता था। यात्री यहीं रातबसेरा करके दूसरे दिन आगे की यात्रा पर निकल पड़ते थे।

अनाथपिंडिक उन दिनों के प्रसिद्ध व्यापारियों में से एक था। उसका व्यवसाय दूर-दूर तक देश-विदेश में तो फैला हुआ था ही, राजगृह से श्रावस्ती तक के यातायात-मार्ग पर इन मंडियों के व्यापारियों के साथ भी उसके घनिष्ठ व्यावसायिक संबंध थे जो अत्यंत मधुर और मैत्रीपूर्ण थे। इन व्यापारियों पर उसका इस कारण भी गहरा प्रभाव था कि वह अपने व्यापार में बहुत प्रामाणिक था। कहीं किसी के साथ धोखा-धड़ी नहीं करता था। इसलिए सभी व्यापारी सदा उसके सत्परामर्श को सम्मान और विश्वास के साथ स्वीकार करते थे।

इस मार्ग के पड़ाव की प्रत्येक मंडी के व्यापारियों को उसने बताया कि संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। वे इस समय राजगृह में विहार कर रहे हैं। मैं उनसे मिला हूं। उनके उपदेशों से अत्यंत लाभान्वित हुआ हूं। मैंने उन्हें बृहत भिक्षुसंघ सहित श्रावस्ती आने का आमंत्रण दिया है जिसे उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार कर लिया है। वे इसी मार्ग से श्रावस्ती आयेंगे। तब एक रात आप के यहां ठहरेंगे। आप उन सब के रात्रि-निवास का तथा दूसरे दिन प्रातःकाल आगे की यात्रा के लिए प्रस्थान करने के पूर्व भोजनदान का समुचित प्रबंध करें और इस असीम पुण्य अर्जन के शुभ अवसर का पूरा लाभ उठायें। इस सूचना और प्रस्ताव से सभी प्रसन्न हुए। उन्होंने अनाथपिंडिक का बड़ा उपकार माना। जिस गांव के लोग संपन्न नहीं थे और इस कारण मनोनुकूल व्यवस्था कर सकने योग्य नहीं थे उन्हें अनाथपिंडिक ने आवश्यक आर्थिक सहायता दी ताकि किसी भी कारण किसी भी पड़ाव पर भगवान और भिक्षुसंघ को कष्ट न उठाना पड़े।

*** *** ***

यों सारे रास्ते भगवान की यात्रा का समुचित प्रबंध करवाते हुए वह श्रावस्ती पहुँचा। उसने वहां शीघ्र ही तपोभूमि के अनुकूल विहार की खोज आरंभ कर दी। राजगृह रहते हुए उसने सारिपुत्र से खूब समझ लिया था कि विहार कैसा बने ? कहां बने ? उसमें क्या-क्या सुविधाएं हों ? वह ऐसे ही किसी उपयुक्त स्थान की खोज में लग गया जो कि–

* नगर से न अति दूर हो, न अति समीप।
* जहां गमनागमन की सुविधा हो,
* जहां लाभ लेने वाले लोगों के लिए आ सकने की सुगमता हो।
* जहां दिन में बहुत भीड़-भाड़ न हो,
* जहां रात में बहुत हल्ला-गुल्ला न हो,

* जहां निर्जन वातावरण हो,
* जहां राह पर लोगों का बहुत आवागमन न हो,
* जहां ध्यान की पूर्ण अनुकूलता हो।

खोजते-खोजते उसे जेत राजकुमार का उद्यान दीख पड़ा जो इस निमित्त सर्वथा अनुकूल था। उद्यान खरीदने के लिए वह जेत राजकुमार के पास गया। राजकुमार अपना उद्यान किसी कीमत पर भी नहीं बेचना चाहता था। उसने टालने के लिए उसकी कीमत **कोटि सन्थार** बता दी।

अनाथपिंडिक ने उसकी जबान पकड़ ली और तत्क्षण सौदा पक्का कर लिया। बिना मन के जेत राजकुमार को अपना उद्यान बेचना पड़ा। वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था कि उसके उद्यान की इतनी कीमत देने के लिए कोई तैयार हो जायेगा? **कोटि सन्थार** का अर्थ था – करोड़ों का बिछावन। उन दिनों की बोलचाल की भाषा में इसका अर्थ था, उद्यान की सारी भूमि पर एक किनारे से दूसरे किनारे तक सोने के सिक्कों की बिछायत करनी, यानी उसे सोने के सिक्कों से ढकना। श्रेष्ठि अनाथपिंडिक ने यही किया। वह गाड़ियों में सोना भर-भर कर ले आया और उद्यान के एक छोर से दूसरे छोर तक बिछवाने लगा।

जिस स्थान पर भगवान विहार करेंगे और उनके सान्निध्य में अनेक साधक साधना करेंगे, उस तपोभूमि की कोई कीमत नहीं आंकी जा सकती। अनाथपिंडिक को लगा, उस भूमि के लिए यह कीमत भी थोड़ी है। जो स्वयं धर्म-रस चख लेता है, उसके मन में यह भाव प्रबल हो ही उठता है कि ऐसा धर्म-रस अनेक लोग चखें। यहां भगवान स्वयं पधारेंगे, तब अनेक व्यक्तियों को यह सुविधा मिलनी सहज हो जायेगी। वह अत्यंत प्रसन्न चित्त से जेतवन को सोने की मोहरों से ढकवाये जा रहा था। उसका मन इसी चिंतन-मनन में लगा हुआ बांसों उछल रहा था कि उसकी संपत्ति का कैसा सदुपयोग होने जा रहा है!

राजकुमार यह सब देख कर अवाक रह गया। उसने सोचा, अवश्य इस भूमि पर कोई अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य होने जा रहा है, अन्यथा यह सांसारिक नगर-सेठ इसके लिए इतना धन कदापि व्यय नहीं करता। जब उसने जाना कि उसका यह उद्यान किस लिए खरीदा जा रहा है तो वह भावविभोर हो उठा। तब तक बाकी सारी जमीन पर स्वर्ण मुद्राएं बिछायी जा चुकी थीं। केवल एक कोना बचा था, अनाथपिंडिक ने इसे ढकने के लिए गाड़ियों से और सोना लाने का आदेश दिया, परंतु जेत राजकुमार ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा– बस कर, श्रेष्ठी, इस

खाली (जमीन) को मत ढक। इस पर स्वर्ण मत बिछा। मुझे अवसर दे जिससे कि यह मेरा दान हो।

अनाथपिंडिक ने उसकी बात यह सोच कर मान ली कि राजकुमार नगर का प्रसिद्ध व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति का इस कार्य में सहयोगी होना अच्छा ही होगा। वैसे भी मेरे इस अपरिमित पुण्य कार्य में कोई भागीदार बनना चाहे तो मैं बाधक क्यों बनूं!

जो भूमि राजकुमार के दान के हिस्से में आयी वह मार्ग के समीप थी, अतः राजकुमार ने उस स्थान पर विहार का मुख्य द्वार बनवाया, एक विशाल ड्योढ़ी बनवायी।

अनाथपिंडिक ने शेष भूमि पर विहार बनवाये, प्रवेण बनवाये, कोठे बनवाये, सभागृह बनवाये, पानी गर्म करने के लिए अग्निशालाएं बनवायीं, भंडारघर बनवाये, पेशाब-पाखाने के स्थान बनवाये, खुले चंक्रमण बनवाये, चंक्रमण शालाएं बनवायीं, पानीघर बनवाये, प्याऊ बनवाये, स्नानागार बनवाये, स्नानशालाएं बनवायीं, पुष्करणियां बनवायीं और मंडप बनवाये, जिससे कि हजारों भिक्षु और साधक भगवान के सान्निध्य में सुविधापूर्वक रह कर ध्यान कर सकें। अनाथपिंडिक ने अठारह करोड़ के मूल्य की स्वर्णमुद्राएं बिछवा कर जिस धरती को खरीदा, उस पर और अठारह करोड़ खर्च कर ये आवश्यक निर्माण कराए, तथा उस विशाल तपोविहार के रख-रखाव के लिए अठारह करोड़ का दान अलग से निश्चित कर दिया। इस प्रकार उसने ५४ करोड़ का दान दिया। भगवान के इस परम श्रद्धालु, गृहस्थ शिष्य ने दान के इतिहास में सदा के लिए एक अतुलनीय समुज्ज्वल कीर्तिमान स्थापित किया।

अनाथपिंडिक का यह महर्घ दान सचमुच अनुपम था, असीम पुण्यफलदायी था। अपनी कल्याणकारिणी धर्मचारिका के ४५ वर्षों में से २५ वर्षों का वर्षावास भगवान बुद्ध ने श्रावस्ती में किया। इस विहार में दस हजार साधकों के रहने और ध्यान कर सकने की सुख-सुविधाएं उपलब्ध थीं। भिक्षुओं के अतिरिक्त लाखों की संख्या में नगर-निवासी गृहस्थों ने यहां आकर भगवान की अमृतवाणी का रस पान किया। उनके बताए आष्टांगिक मार्ग पर चले। शील का पालन करते हुए समाधि का अभ्यास किया और अपनी प्रज्ञा जागृत कर उनमें से अनेक स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुए और इस प्रकार अपनी भवमुक्ति निश्चित कर ली। यों अनाथपिंडिक का यह महर्घ दान पूर्णतया सफलीभूत हुआ।

धर्म की स्वस्थ परंपरा में कोई व्यक्ति किसी विहार का दान देकर उस

पर अपना नाम नहीं लिखवाता, क्योंकि वह अपनी प्रसिद्धि के लिए दान नहीं देता। महज लोक-कल्याण के उद्देश्य से दान देता है। लेकिन फिर भी इतना बड़ा दान देने के कारण प्रसिद्धि अपने आप हो जाती है। भगवान के जीवन काल में यहां अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएं घटीं। यहीं उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण उपदेश दिए। अनेकों को भवमुक्त होने की विपश्यना विद्या सिखायी। इनका वर्णन करते हुए पुरातन पालि साहित्य में अनाथपिंडिक का नाम इस प्रकार सैंकड़ों बार आया है–

एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति, जेतवने अनाथपिंडिकस्स आरामे...

और यों २६०० वर्ष पूर्व की यह असाधारण घटना चिरकाल तक लोक विश्रुत हुई। आज भी सद्धर्म की सेवा में जुड़े हुए साधकों के लिए अपरिमित प्रेरणा का कारण बनी हुई है। महादानी अनाथपिंडिक का तो परम मंगल, परम कल्याण हुआ ही, उससे प्रेरणा पाकर न जाने अन्य कितनों का मंगल कल्याण हुआ, आज भी हो रहा है और भविष्य में भी होता ही रहेगा। सचमुच समय पक चुका है। सद्धर्म पुनः जागेगा और लोकमंगल होता ही रहेगा, लोक कल्याण होता ही रहेगा।

१३. तथागत का पार्थिव शरीर

वैशाख पूर्णिमा की उदास चांदनी रात। यह रात पूरी होते-होते तथागत जीवन के ८० वर्ष पूरे करके महापरिनिर्वाण को प्राप्त होंगे। तीन महीने पूर्व उन्होंने यही भविष्यवाणी की थी और वैशाली से पश्चिम की ओर लंबी यात्रा पर चल पड़े थे। कुशीनगर की राजधानी के बाहर एक युग्म शाल वृक्ष के तले तथागत एक मचान पर लेटे हैं। उन्होंने परिनिर्वाण के लिए यही स्थान चुना है। समीप के नगर में यह सूचना फैल गयी थी कि आज की रात पूरी होते-होते भगवान अंतिम सांस छोड़ेंगे। इसलिए रात भर तथागत के दर्शन के लिए भिक्षु और गृहस्थ नागरिकों का तांता लगा रहा।

तथागत का शरीर अत्यंत क्लांत है, परंतु प्रज्ञा-भरा मानस अत्यंत सजग है और करुणा से लबालब भरा है। चेहरे पर परम शांति समायी हुई है, अतुलनीय कांति छायी हुई है। झुंड के झुंड लोग आते हैं और भगवान को नमस्कार कर एक ओर बैठ जाते हैं।

शनैः शनैः रात्रि का अवसान समीप आ रहा है। नभोमंडल और भूमंडल के सारे वायुमंडल में विषाद की तरंगें बिखराते हुए पूर्णिमा का चांद भारी मन से पश्चिमी क्षितिज की ओर आगे बढ़ रहा है। पूर्वी क्षितिज पर ऊषा की जरा-जरा लाली झलकने लगी है। महापरिनिर्वाण का समय अत्यंत समीप आ गया है। सूर्योदय के पूर्व तथागत का महाप्रयाण होगा। चारों ओर गहन प्रश्रब्धि और प्रशांति छायी हुई है। सभी मौन होकर तथागत के चेहरे पर निर्निमेष दृष्टि लगाये हुए हैं। अनंत बोधि की महिमा-मंडित गौरव-गरिमा को वहन करने वाला यह भव्य भौतिक शरीर चंद मिनटों में ही निष्प्राण हो जाने वाला है। दुर्बल मन के लोग इस चिंता से व्यथित थे कि इस महाप्रयाण के बाद ऐसे महापुरुष का सान्निध्य कहां प्राप्त होगा?

यकायक आनंद के मन में एक प्रश्न उठा। गहन नीरवता को भंग करते हुए उन्होंने तथागत से पूछा, "भंते भगवान, आपके निष्प्राण हुए भौतिक शरीर का हम किस प्रकार सम्मान करेंगे?"

भगवान ने मुस्करा कर कहा, "आनंद, तुम इस शरीर के बारे में निश्चिंत रहो! तुम्हें तो परम सत्य की उपलब्धि के लिए तपःसाधन में ही रत

रहना है। श्रद्धालु गृहस्थ इस पार्थिव शरीर का मान-सम्मान, पूजन-अर्चन उसी प्रकार करेंगे, जिस प्रकार किसी चक्रवर्ती सम्राट अथवा किसी प्रत्येक बुद्ध अथवा किसी क्षीणास्रव अरहंत के निष्प्राण शरीर का किया जाना चाहिए।''

भगवान ने आगे समझाया कि श्रद्धालु लोग उनके मृत शरीर को एक नये वस्त्र में लपेट कर, उस पर नयी धुनी हुई रूई चढ़ा कर और पुनः नये कपड़े से ढक कर तेल-भरी द्रोणी में रखेंगे और चिता पर इसका दाह-संस्कार करेंगे। दाह-क्रिया के पश्चात जो देह-धातु बचेगी उस पर शासक लोग नगर के चौराहों पर स्तूप बनायेंगे। वहां श्रद्धालु गृहस्थ भक्तिभावपूर्वक पूजन-अर्चन करेंगे और पुण्यलाभी होंगे; अपने चित्त को प्रसन्नता से भर कर अपना लोक-परलोक सुधारेंगे।

भगवान ने बताया कि सम्यक संबुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, क्षीणास्रव अरहंत और चक्रवर्ती सम्राट के अस्थि-अवशेषों पर ही पूजन-अर्चन के लिए भव्य स्तूपों का निर्माण किया जाता है।

इस प्रकार तथागत ने अपने पार्थिव शरीर के अवशेषों के बारे में आवश्यक सुझाव दिये। कुछ देर की नीरव शांति के बाद तथागत ने संक्षेप में थोड़े से अन्य उपदेश देकर पुनः मौन धारण कर लिया। इसी समय परिव्राजक सुभद्र भगवान से धर्म सीखने की आकांक्षा लेकर आया। आनंद ने उसे रोका और समझाया कि ऐसे समय तथागत को कष्ट नहीं देना चाहिए। परंतु सुभद्र नहीं मान रहा था। सुभद्र की धर्म-याचना के शब्द उस महान कारुणिक के कानों में पड़े। करुणा के सागर में ज्वार उमड़ आया। शरीर छोड़ने के कुछ ही समय पूर्व उन्होंने परिव्राजक सुभद्र को अपने समीप बुला कर धर्म समझाया। उसकी जिज्ञासा पूरी हुई। सद्धर्म के प्रति उसकी शंकाएं दूर हुईं। वह धन्य हुआ। भगवान के अंतिम उपदेश से लाभान्वित होकर वह मुक्ति-पथ का अनुगामी बना।

उधर पश्चिम में पूर्णिमा का चांद क्षितिज छूने लगा था। रात समाप्त होने आ रही थी। भगवान ने आंखें खोली, भिक्षु-संघ की ओर दृष्टिपात किया और उनके मुँह से सभी भावी साधकों के लिए अनमोल विरासत के रूप में उद्बोधन के यह अंतिम बोल मुखरित हो उठे –

''वयधम्मा सङ्खारा,
अप्पमादेन सम्पादेथ।

– सारे संस्कार व्यय-धर्मा हैं। जो कुछ संस्कृत याने निर्मित होता है वह नष्ट होता ही है। (विपश्यना साधना द्वारा) प्रमाद-रहित रह कर (अपने भीतर) इस सच्चाई को स्वानुभूति पर उतारो।''

इस उद्‌बोधन के तुरंत बाद तथागत ने चंद क्षणों में ही एक के बाद एक, पहले से नौवें ध्यान की समापत्ति का साक्षात्कार किया और इंद्रियातीत निर्वाणिक अवस्था में स्थित हुए। इस अवस्था में श्वास की गति सर्वथा निरुद्ध हुई तो लोगों को भ्रम हुआ कि भगवान ने महापरिनिर्वाण प्राप्त कर लिया है। परंतु समीप बैठे महास्थविर अनिरुद्ध ने अपने सिद्धिबल द्वारा जाना कि यह शरीर-च्युति की अवस्था नहीं है। भगवान अभी जीवित हैं। कुछ ही क्षणों के बाद पुनः नौवें ध्यान की इंद्रियातीत निर्वाणिक अवस्था से निकल कर, भगवान ने एक बार फिर पहले से चौथे ध्यान-समापत्ति की यात्रा पूरी की और उसी अवस्था में महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

यों वैशाख पूर्णिमा की रात पूरी होते-होते अनगिनत जन्मों से भव-भ्रमण करता हुआ उनका यह अंतिम जीवन पूरा हुआ। भौतिक शरीर जीवन-शून्य हुआ। परंतु सारे विश्व के कल्याण के लिए उनके द्वारा उपदेशित धर्म जीवंत बना रहा।

अल्प समय पूर्व ही आनंद को दिये मार्गदर्शन के अनुसार कुशीनगर के मल्ल शासकों ने भगवान के निष्प्राण हुए पार्थिव शरीर को नयी धुनी हुई रूई के पहलों और नये बुने हुए वस्त्रों में लपेट कर तेल-भरी द्रोणी में रखा। परंतु उसे चिता पर तत्काल नहीं चढ़ा सके। उन्हें सूचना मिली कि तथागत के प्रमुख शिष्य महास्थविर महाकाश्यप अन्य अनेक भिक्षुओं के साथ कुशीनगर की ओर आ रहे हैं। अतः उनके पहुँचने तक एक सप्ताह प्रतीक्षारत रहें। भिक्षु महाकाश्यप के पहुँचने पर ही दाह-क्रिया की गयी। तदनंतर चिता को शीतल करके जो अस्थि-अवशेष प्राप्त हुए उन्हें अपने गणतंत्र की राजधानी में एक भव्य स्तूप बना कर उसमें प्रतिष्ठापित करने के लिए अपने अधिकार में ले लिए।

परंतु मगध के शक्तिशाली सम्राट अजातशत्रु ने जब यह सुना तो वह अपने सैन्यबल के साथ कुशीनगर पर चढ़ आया और उन अस्थियों पर अपने अधिकार का दावा करने लगा। इस पिछले एक सप्ताह के भीतर तथागत के महापरिनिर्वाण की सूचना द्रुत-गति से चारों ओर फैल गयी थी। इसे सुन कर इसी प्रकार वैशाली के लिच्छवी, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलिय, रामग्राम के कोलिय, वेठदीप के ब्राह्मण और पावा के मल्ल भी भगवान के पार्थिव शरीर के अवशेषों पर अपना-अपना अधिकार जताने के लिए सदल-बल कुशीनगर आ पहुँचे। इन सभी राज्यों और जनपदों के निवासी भगवान के श्रद्धालु अनुयायी थे, अतः भगवान के अस्थि-अवशेषों पर अपना-अपना अधिकार मानते थे। सभी शक्ति-संपन्न थे। इनमें से कोई भी अपना अधिकार छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। बात बिगड़ती देख कर तथागत के एक श्रद्धालु शिष्य ब्राह्मण **द्रोण** ने बीच-बचाव किया और इस

झगड़े का शांतिपूर्ण निपटारा करते हुए समस्त अस्थि-अवशेषों को आठ भागों में विभाजित कर, उन आठ राज्यों के शासकों को सौंपते हुए, उन्हें संतुष्ट किया, जिससे कि वे अपने-अपने राज्य की राजधानी में अपने हिस्से में प्राप्त हुए अस्थि-अवशेषों पर भव्य स्तूप का निर्माण कर मंगललाभी हो सकें और श्रद्धालु जनता को पूजन-अर्चन द्वारा पुण्यलाभ प्राप्त करने का अवसर दे सकें। बँटवारे के पहले जिस कलश में भगवान की सारी अस्थि-धातु रखी गई थी, उस खाली कलश को ब्राह्मण द्रोण ने अपने लिए मांग लिया ताकि वह श्रद्धापूर्वक उस कलश पर एक स्तूप का निर्माण कर सके। यों बँटवारा पूर्ण हो जाने के बाद, अस्थि-अवशेषों पर अपना भी अधिकार जताने के लिए पिप्पलीवन के मौर्य कुशीनगर पहुँचे, परंतु उस समय चिता के बुझे हुए कोयले ही बचे थे, जिन्हें ले जाकर उन्होंने अपनी राजधानी में उन पर एक स्तूप का निर्माण किया और इसी में संतोष माना।

लगभग २५०० वर्ष के लंबे अंतराल के बाद शाक्यों की पुरातन राजधानी कपिलवस्तु में एक पुराने स्तूप के खंडहरों में से भगवान के शरीर-अवशेषों की जो एक अस्थि-मंजूषा प्राप्त हुई है, अच्छा हो यदि इन अवशेषों पर आज की किसी राजनगरी में एक भव्य स्तूप का निर्माण करके, उन्हें श्रद्धापूर्वक पुनर्स्थापित किया जाय, ताकि भारत के ही नहीं, प्रत्युत विश्व भर के सभी श्रद्धालु लोग इनका पूजन-अर्चन करते हुए तथागत के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ा कर पुण्यलाभी हो सकें।

परंतु साधको, भगवान द्वारा आनंद को दिए गए आदेश को ध्यान में रखते हुए हमें इन अवशेषों का उपयोग ध्यान के लिए ही करना उपयुक्त है। इन अवशेषों की धर्म-तरंगों से तरंगित हुए वातावरण में अंतर्मुखी होकर विपश्यना का अभ्यास करेंगे तो अनित्य-बोध की चेतना अधिक सबल होकर जागेगी और चित्त को विकारों से विमुक्त करने में सबल सहायिका सिद्ध होगी। इसी में हम साधकों का परम मंगल है, परम कल्याण है! ●●

परिशिष्ट–१

विपश्यना साहित्य

हिंदी :

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, भाग- १ एवं भाग- २

धर्म: जीवन जीने की कला

जागे पावन प्रेरणा

जागे अंतर्बोध

धारण करे तो धर्म

प्रवचन सारांश *(शिविर-प्रवचन)*

निर्मल धारा धर्म की – *(पांच दिवसीय सार्वजनिक प्रवचन)*

मंगल हुआ प्रभात *(हिंदी दोहे)*

धम्मगीतं *(पालि गाथाएं, हिंदी अनु.)*

महासतिपट्ठानसुत्त *(भाषानुवाद एवं समीक्षा सहित)*

जागो लोगां जगत रा *(राजस्थानी दूहा)*

लघु पुस्तिकाएं –

संप्रदाय ना धर्म है *(हिन्दी दोहे)*

चलें धर्म के पंथ *(हिन्दी दोहे)*

अपना अंतर देख *(हिन्दी दोहे)*

चित समता ना खोय *(राजस्थानी दूहा)*

धरम सदा मंगळ करै *(राजस्थानी दूहा)*

अपणो करम सुधार *(राजस्थानी दूहा)*

धूप छांह री जिंदगी *(राजस्थानी दूहा)*

मन रा मैल उतार *(राजस्थानी दूहा)*

शासनतंत्र में विपश्यना *(परिवर्तन और सुधार लाने का एक कारगर उपाय)*

विपश्यना क्यों ?

धर्म क्या है ?

धर्म का सार

धर्म का सही मूल्यांकन

समता धर्म

धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप

सम्यक धर्म

सत्य ही धर्म है

धर्म दर्शन

साधना की पथ-प्रदर्शिका *(केवल पुराने साधकों के लिए)*

मराठी :

धर्म : जीवन जगण्याची कला

शांतिपथ

प्रवचन सारांश *(मराठी)*

जागे पावन प्रेरणा

गुजराती :

धर्म : जीवन जीववानी कला

प्रवचन सारांश *(गुजराती)*

विपश्यना शा माटे ? *(लघु पुस्तिका)*

सिन्धी :

धर्म : जीवन जीयण जी कला

उर्दू :

होश का सफर *(उर्दू दोहे)*

पालि तिपिटक :

दीघनिकाय *(११ खंड)*

मज्झिमनिकाय *(११ खंड)*

संयुत्तनिकाय *(१२ खंड)*

अङ्गुत्तरनिकाय सजिल्द *(१२ खंड)*

अङ्गुत्तरनिकाय अजिल्द *(१२ खंड)*

खुद्दकनिकाय – सेट १ *(९ खंड)*

ENGLISH :

Sayagyi U Ba Khin Journal

Essence of Tipitaka

The Art of Living : Vipassana Meditation by William Hart

The Discourse Summaries

The Gracious Flow of Dharma (Three-day Public Talk by Shri S.N. Goenka)

A Re-appraisal of Patanjali's Yoga Sutra in Light of the Buddha's Teachings by S. N. Tandon

Vipassana: Its Relevance to the Present World

Gotama The Buddha: His Life and Teaching

Vipassana Meditation: Healing the Healer

Dhamma: Its True Nature

The Wheel of Dhamma Rotates

Pagoda Seminar, Oct. 1997

Psychological Effects of Vip. on Tihar Jail Inmates

Come, People of the World

Mahasatipatthana Sutta (Roman Pali with Eng. Trans.)

Pali Primer

Path of Joy

Pamphlets :

The Art of Living

Vipassana in Government

What Senior Administrators Say About Vipassana-I

What Senior Administrators Say About Vipassana-II

What Senior Administrators Say About Vipassana-III

What Muslims Say About Vipassana-I

What Muslims Say About Vipassana-II

What Christians Say About Vipassana-I

What Christians Say About Vipassana-II

Vipassana In Prison

Vipassana-- An Art of Corporate Management

Vipassana & Health

Drug Addiction And Therapy: A Vipassana Perspective

(These pamphlets are for popularising Vipassana)

संपर्क :

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, नाशिक, महाराष्ट्र

फोनः ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६.

फैक्सः ०२५५३-२४४१७६.

E-mail : <info@giri.dhamma.org>

Web-site : <www.vri.dhamma.org>

*(दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवादित विपश्यना साहित्य, **स्थानीय केंद्रों** पर उपलब्ध है)*

विपश्यना साधना के केंद्र

विश्वभर में विपश्यना के कुल ९१ केन्द्र और भारत में ४५ केंद्र हैं जिनमें से कुछ केंद्रों के नाम यहाँ दिये जा रहे हैं। इच्छुक व्यक्ति किसी भी केंद्र से भावी शिविर-कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त करके, अपनी सुविधानुसार सम्मिलित हो सकते हैं :-

प्रमुख केंद्र : धम्मगिरि : विपश्यना विश्व विद्यापीठ, इगतपुरी-४२२४०३, नाशिक,
फोन: ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६. फैक्स: २४४१७६.
e-mail: info@giri.dhamma.org; Website: www.vri.dhamma.org

धम्मानन्दः पुणे विपश्यना केंद्र, मरकल गांव के पास, आलंदी से ८ किमी.
फोन: ०२१३५-२४६१७१, २४६१७२.
e-mail: <webmaster@pune.dhamma.org>

धम्मथली : विपश्यना केन्द्र, पो.बॉ. २०८, जयपुर-३०२००१, राजस्थान, (सिसोदियारानी बाग गल्ताजी रोड होकर) फोन: ०१४१-२६८०२२०, २६८०३११.
फैक्स: २५६१२८३. E-mail: <dhammjpr @datainfosys.net>

धम्मसोत : विपश्यना केन्द्र, रहका गाँव, सोहना-बल्लभगढ़, गुडगांव, हरियाणा
फोन : ०११-२६४५२७७२, २६४७३२९४; फैक्स: २६४७०६५८ **संपर्कः** विपश्यना साधना संस्थान, हेमकुंठटावर्स, १६वां तल, ९८ नेहरू प्लेस, नई दिल्ली-११००१९.
फोन : २६४५२७७२, फैक्स: २६४७०६५८, Website: www.dhammasota.org
E-mail: vipassana@dhammasota.org

धम्मसलिल : देहरादून विपश्यना केंद्र, फोन: ०१३५-२६५०७०४, २६५४१८९.
फैक्स: २६५५५८०; E-mail: assorep@ndc.vsnl.net.in

धम्मसिन्धु : कच्छ विपश्यना केन्द्र, ग्राम-बाड़ा, ता. मांडवी, जिला. कच्छ-३७०४७५.
फोन: ०२८३४-२२००७६, २७३३०३; फैक्स: २२०५६६
E-mail: info@sindhu.dhamma.com

धम्मकोट : सौराष्ट्र विपश्यना केंद्र , कोठारिया रोड, राजकोट. फोन: ०२८१-२३९१९१२, २६८१२२१; फैक्स: २२२१३८४; E-mail: <dhammakot@hotmail.com>

धम्मपीठः गुर्जर विपश्यना केंद्र, ग्राम रनोडा, ता. धोलका, जिला. अहमदाबाद-३८७८१०,
फोन: ०७९-५६२४६३१, ३४२२४७३; फैक्स: ०२७१४-२२२४७३
e-mail: silksb@vsnl.com

धम्मखेत्त : विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, कुसुम नगर, (१२.६ किमी.) नागार्जुन सागर रोड, हैदराबाद-५०००७०, आंध्र प्रदेश; फोन: ०४०-२४२४०२९०, २४२४१७४६.
फैक्स: २४२४०२९०; E-mail: <vimc_hyd@hotmail.com>

धम्मबोधिः बोधगया अन्तर्राष्ट्रीय विपश्यना साधना केंद्र, पो. मगध विश्वविद्यालय, गया-डोभी रोड, बोधगया-८२४२३४, फोन: ०६३१-२२००४३७. फैक्स: २३५२८७४

धम्मगंगा : कलकत्ता विपश्यना केंद्र, सोदपुर, बैरो मंदिर घाट, पनिहटी-७४३१७६, (धम्मगंगा) जिला-२४ परगना (उत्तर), प. बंगाल; फोन : ०३३-२२४२३२२५, २२२५१३६६; फैक्स: २२२५५१७४.

धर्मशृंग : नेपाल विपश्यना केन्द्र, मुहान पोखरी, बूढ़ानीलकंठ, पो. बा. १२८९६, काठमांडू,
फोन : ००९७७-१-३७१ ६५५, ३७१ ००७. फैक्स: २२४७२०,
E-mail: nvc@htp.com.np

विपश्यना साधना के केंद्र

विपश्यना विशोधन विन्यास के कुल ९९ केंद्र और भारत में ४५ तथा विदेशों में ... [illegible] ... दिए जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त किसी भी केंद्र से अन्य शिविरों संबंधी जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

मुख्य केंद्र : धम्मगिरि : विपश्यना विश्व विद्यापीठ, इगतपुरी-४२२४०३, नासिक, फोन: ९५५३ २४४०७६, २४४०८६ फैक्स: २४४१७६,
e-mail: info@giri.dhamma.org Website: www.vri.dhamma.org

अजमेर : धम्म पुष्कर, [illegible]
फोन: [illegible]
e-mail: info@pushkar.dhamma.org

अहमदाबाद : [illegible]
फोन: [illegible]
E-mail: [illegible]

कच्छ : [illegible]
फोन: [illegible]
Website: www.dhamma.org
E-mail: [illegible]

कोलकाता : [illegible]
फोन: [illegible] E-mail: [illegible]

कोल्हापुर : [illegible]
फोन: [illegible]
E-mail: info@[illegible].dhamma.com

चेन्नई : [illegible]
[illegible] E-mail: [illegible]

जयपुर : [illegible]
फोन: [illegible]
e-mail: [illegible]

दिल्ली : [illegible]
[illegible]
फैक्स: [illegible] E-mail: [illegible]@hotmail.com

धर्मशाला : [illegible]
[illegible]

नागपुर : [illegible]
[illegible]

नेपाल : धम्म शृंग, [illegible]
फोन: [illegible]
E-mail: svc@hp.com.np